

प्रस्थानत्रयानुमोदित



श्रीहरिनाम सङ्कीर्तन मण्डल (रजि०)

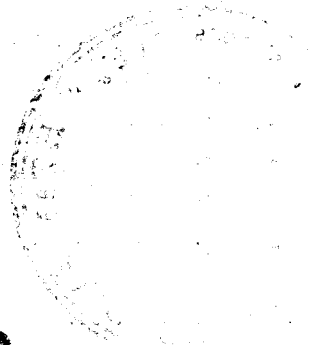
श्रीधाम-वृन्दावन ।

ॐ श्रीगौराङ्गविधुर्जयति



प्रस्थानत्रयान्मोदित

❖❖ जीव-तत्त्व ❖❖



श्रीहरिनाम सङ्कीर्तन मण्डल (रजि०)

श्रीधाम-वृन्दावन ।

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
दो शब्द	क
१. जीव का साधारण लक्षण	१
२. जीव भगवान् की शक्ति है	२
३. जीव चिद्रूपा शक्ति है	३
४. जीव तटस्था शक्ति है	४
५. जीव भगवान् का अंश है	५
६. जीव भगवान् का किस प्रकार का अंश है ?	७
७. जीव विभिन्नांश है	१२
८. जीव का परिमाण या आयतन	१४
९. शङ्कर मत पर विचार और खण्डन	१६
१०. जीव का अणुत्व परिमाणगत है	३५
११. जीव चित्-करण है	३६
१२. जीव का नित्यत्व है	३६
१३. जीव का नित्य पृथक् अस्तित्व है	३७
१४. जीव संख्या में अनन्त हैं	३६
१५. जीव ज्ञानस्वरूप एवं ज्ञाता है	४०
१६. जीव का कर्तृत्व है	४०
१७. जीव का कर्तृत्व परमेश्वर के आधीन है	४२
१८. जीव में अणु-स्वातन्त्र्य है	४५
१९. जीव श्रीकृष्ण का भेदाभेद-प्रकाश है	४७
२०. जीव स्वरूपतः श्रीकृष्ण का नित्य-दास है	५१
२१. नित्यमुक्त और बद्ध जीव	६०
२२. संसार-बन्धन का हेतु	६४
२३. माया-बन्धन नष्ट करने का उपाय	७१

• दो शब्द •



सच्चिदानन्द परमब्रह्म अद्वयज्ञान-तत्त्व सर्वव्यापक, अनन्त, विभु, सविशेष, अप्राकृत चिदस्वरूप है, 'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबल क्रिया च'—इत्यादि श्रुतियोंने उसमें अनेकविध परा-शक्ति, ज्ञान-बल-क्रिया का भी निरूपण किया है। उसकी पराशक्ति आदि स्वाभाविकी हैं—अग्नि की दाहिका शक्ति या कस्तूरी की सुगन्ध की भाँति परमब्रह्म की शक्ति भी परमब्रह्म से अविच्छेद्य है—उसकी स्वरूपगत तथा नित्य सम्बन्ध-विशिष्ट है।

'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते'—इत्यादि श्वेताश्वतर श्रुति-वाक्य से 'पराशक्ति' का, "मायान्तु प्रकृतिं विद्यान् मायिनन्तु महेश्वरम्" इत्यादि श्रुति-वाक्यसे तथा 'देवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया' इत्यादि—श्रीगीता-वाक्य से त्रिगुणात्मिका 'मायाशक्ति' का और 'अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्'—इत्यादि श्रीगीता-वाक्य से 'जीवशक्ति' का सुस्पष्ट परिचय मिलता है।

श्रीचैतन्यचरितामृत (२-८-११६) में भी श्रीकविराज गोस्वामीपाद ने लिखा है—'कृष्णेर अनन्त शक्ति, ताते तिन प्रधान। चिच्छक्ति, मायाशक्ति, जीव शक्ति नाम ॥'—परमब्रह्म श्रीकृष्ण की अनन्त शक्तियों में तीन शक्तियां प्रधान हैं, परा-शक्ति, माया-शक्ति एवं जीवशक्ति। परा-शक्ति का दूसरा नाम स्वरूप-शक्ति या अन्तरङ्गा-शक्ति है एवं माया-शक्तिको बहिरङ्गा-शक्ति तथा जीव-शक्ति को तटस्था-शक्ति भी कहा जाता है।

ब्रह्मसूत्र 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा (१-१-१) के अनुसार परमब्रह्मतत्त्व की जिज्ञासा का प्रश्न उठते ही उस परमतत्त्व के सम्यक् ज्ञान के लिए उसकी स्वरूप-शक्ति, बहिरङ्गा-शक्ति तथा जीव-शक्ति के स्वरूप, शक्ति एवं क्रिया-वैचित्र्य के जानने की भी स्वाभाविक जिज्ञासा उदित होती है।

अप्राकृत चिन्मय विभुतत्त्व नेत्र-कर्णादि इन्द्रियों के अगोचर है, उसकी शक्ति या शक्ति-वैचित्र्य भी इन्द्रियों के ज्ञान से परे हैं, किन्तु 'शास्त्र-योनित्वात्', 'श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्'—इत्यादि प्रमाणोंसे उसे श्रुतिवेद्य कहा

गया है; अर्थात् वेदोपनिषद् श्रुति, वेदान्त या ब्रह्मसूत्र तथा श्रीमद्भगवद्-गीता-पुराण-इतिहासादि स्मृति-शास्त्रों के द्वारा उस परम-तत्त्व का ज्ञान उपलब्ध किया जा सकता है। इसीलिए परमतत्त्व के निर्णायकों ने या ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार आचार्यपादों ने अपने भाष्योंको वेदान्तसूत्र, श्रुति एवं स्मृति-शास्त्र—इस प्रस्थानत्रय पर ही प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की है, यही कारण है कि आज भी जो तत्त्व-निर्णय प्रस्थानत्रयसे अनुमोदित नहीं है, भारतीय साधन-मार्ग व दर्शन-शास्त्र में उसका कोई भी आदर नहीं है।

इस सङ्कलन में परम ब्रह्म की तटस्था शक्ति—जीव-तत्त्व पर प्रस्थान-त्रय के आधार पर ही विचार किया गया है। प्रस्थानत्रय में जीव को स्वरूपतः चिद्रूप, नित्य, अज, परिमाण में अणु, संख्या में अनन्त एवं परमब्रह्म श्रीकृष्ण का अंश (दास) कहकर प्रतिपादित किया गया है एवं मुक्तावस्था में भी जीव का पृथक् अस्तित्व रहता है—प्रस्थानत्रय का यही निर्णय है। पूर्ववर्ती भाष्यकर्त्ता आचार्यगण में श्रीपाद रामानुजाचार्य, श्रीपाद मध्वाचार्य, श्रीगौडीय-वैष्णवाचार्यवृन्द, श्रीपाद निम्बार्काचार्य एवं श्रीपाद बल्लभाचार्य ने भी प्रस्थानत्रय के अनुसार जीवतत्त्व के सम्बन्ध में साधारण भाव में एक ही अभिमत प्रकाशित किया है। सब ने ही जीव को स्वरूपतः चिद्रूप, अज, नित्य, परिमाण में अणु, संख्या में अनन्त, परब्रह्म का अंश एवं नित्य-दास प्रतिपादित करते हुए उसका मुक्तावस्था में भी नित्य पृथक् अस्तित्व स्वीकार किया है।

किन्तु श्रीपाद भास्कराचार्य एवं श्रीपाद शङ्कराचार्य का सिद्धान्त उपर्युक्त समस्त भाष्यकर्त्ता आचार्यपादों से भिन्न है। वे जीव एवं जगत् का वास्तव अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करते। उनका मत है कि जीव व जगत् नाम से जो वस्तुएं परिचित हैं, वे स्वरूपतः ब्रह्म ही हैं। उनका मन्तव्य है कि निर्विशेष ब्रह्म ही माया की अविद्या-उपाधिसे युक्त होकर जीवरूप में प्रतिभात होता है उपाधि के तिरोहित हो जाने पर जीव ब्रह्म ही हो जाता है। तत्त्व-विचार में जीव व ब्रह्म सर्वतोभाव से अभिन्न हैं। दुर्ज्ञेय तत्त्व के कारण जीवको अणु कहा गया है, जीव परिमाण में अणु नहीं है। ब्रह्म ही जब अविद्योपहित अवस्था में जीवरूप से परिचित होता है, तब जीव संख्या में भी अनन्त नहीं है। ब्रह्म जब एक है तो जीव भी एक है—इत्यादि।

श्रीपाद शङ्कराचार्य ने अपने इस मत को कई एक वेदान्त सूत्रों के

स्वरचित भाष्य से अनेक युक्तियों पूर्वक स्थापन करने की भी चेष्टा की है। अपने अभिमत की पुष्टि के लिए उन्होंने कई एक ब्रह्म-विषयक सूत्रों तथा श्रुतियों को जीव-विषयक सिद्ध करने का प्रयास किया है। ऐसा भी देखने में आता है, उन्होंने एक स्थान पर जिस सूत्र का श्रुति का, अर्थ ब्रह्म-परक किया है, दूसरे स्थान पर उसी सूत्र व श्रुति का अर्थ जीव-परक निरूपण किया है। एक स्थान पर उन्होंने जीव का अगुत्व स्वीकार किया है, तो दूसरे स्थान पर उसका विभुत्व। 'तद्गुणसारत्वात्' (२-३-२६) ब्रह्मसूत्र के भाष्य में उन्होंने कहा है कि 'चैतन्य आत्मा का गुण नहीं है किन्तु 'तथा च दर्शयति' (२-३-२७) एवं 'पृथगुपदेशात्' (२-३-२८)—इन दोनों सूत्रों के भाष्य में उन्होंने श्रुति-वाक्यों के उल्लेखपूर्वक यह सिद्ध किया है कि चैतन्य आत्मा का गुण है।

इस प्रकार की चेष्टाओं एवं परस्पर विरुद्ध उक्तियों का एकमात्र कारण उनका जीव एवं ब्रह्म के सर्वतोभाव से अभिन्नत्व के प्रतिपादन करने का सङ्कल्प ही दीखता है। जीव एवं ब्रह्म के एकत्व प्रतिपादन विषय में 'तत्त्वमसि'—वाक्य ही उनका सर्वप्रधान अवलम्बन है। उन्होंने अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिये 'तत्त्वमसि'—वाक्यका जो अर्थ किया है, वह भी एक कौतुकपूर्ण है। यह बात सर्वसम्मत है कि 'तत्त्वमसि' सामानाधिकरण्य का वाक्य है। सामानाधिकरण्य में इस वाक्य का अर्थ करते समय उन्होंने सामानाधिकरण्य का एक नवीन लक्षण निर्णय किया है, जो सर्वसम्मत नहीं हो सकता।

सामानाधिकरण्य का सर्वजन सम्मत लक्षण इस प्रकार है—'भिन्न-प्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन् वृत्ति सामानाधिकरण्यम्' अर्थात् भिन्नार्थ बोधक शब्द समूह की वृत्ति यदि एक ही वस्तु में हो, तो सामानाधिकरण्य हुआ करता है।

श्रीशङ्कराचार्यपाद ने इस अर्थ को भी ग्रहण किया है एवं इसके साथ एक और 'ऐक्य'—शब्द जोड़कर सामानाधिकरण्य का इस प्रकार लक्षण वर्णन किया है—

भिन्नप्रवृत्तिहेतुत्वे पदयोरेकवस्तुनि ।

वृत्तित्वं यत्तथैकैक्यं विभक्त्यन्तकयोस्तयोः ॥

सामानाधिकरण्यं तत् सम्प्रदायिभिरीरितम् ।

तथा पदार्थयोरेव विशेषण-विशेष्यता ॥ तत्त्वोपदेशः ॥ २७ ॥

अर्थात्, 'भिन्नार्थ-बोधक दो पदों की वृत्ति यदि एक ही वस्तु में हो एवं उनका यदि ऐक्य हो, तो सामानाधिकरण्य होगा।' उनके मत में 'ऐक्य' का अभिप्राय सर्वतोभाव से 'एकत्व' में है। जो दो पद सम्यक् रूप से एकत्व-साधक होंगे, वे कभी भी भिन्नार्थ-बोधक नहीं हो सकते। भिन्नार्थ-बोधक न होने पर सामानाधिकरण्य नहीं हो सकता। जो पद भिन्नार्थ-बोधक होते हैं उनके मुख्यार्थ के भिन्नार्थ-बोधक अंश को छोड़कर केवल एकार्थ बोधक अंश मात्र ग्रहण करने से अवश्य उनका सम्यक् एकत्व सिद्ध हो भी सकता है, किन्तु इस प्रकार करने का विधान सामानाधिकरण्य के सर्व-सम्मत लक्षणों में नहीं है, हो भी नहीं सकता; क्योंकि पदों को एकार्थ बोधकत्व में परिणत करने पर वे फिर भिन्नार्थ-बोधक नहीं रहते और भिन्नार्थ-बोधक न रहने पर सामानाधिकरण्य भी नहीं हो सकता। श्रीपाद शङ्कराचार्य ने जो लक्षण निर्णय किया है, वह सामानाधिकरण्य का लक्षण भी नहीं हो सकता। 'तत्' व 'त्वम्'—इन दोनों पदों के ऐक्य स्थापन करने के उद्देश्य से ही उन्हें इस नवीन लक्षण की कल्पना करनी पड़ी; क्योंकि सामानाधिकरण्य के अति प्रसिद्ध लक्षण को माननेसे 'तत्' व 'त्वम्'—इन दोनों पदों का 'ऐक्य' स्थापना नहीं किया जा सकता। उन्होंने जो सामानाधिकरण्य का लक्षण किया है, वह उन्होंने अपनी सम्प्रदाय से ही प्राप्त किया है, यह बात भी उन्होंने स्पष्ट रूपमें कही है—'सम्प्रदायिभिरीरितम्'।

उन्होंने उक्त प्रकार के लक्षण निर्णय को 'तत्' व 'त्वम्' पदों के ऐक्य-स्थापन का उपाय विचार किया है। 'तत्' व 'त्वम्' दोनों पदों के मुख्यार्थ में उनका 'ऐक्य' स्थापन नहीं किया जा सकता। क्योंकि 'तत्' पद का मुख्यार्थ है—सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, शुद्ध चित् (ब्रह्म); और 'त्वम्' पद का मुख्यार्थ है—अल्पज्ञ, अल्प शक्तिमान्, शुद्ध चित् (जीव)। ये दोनों कभी एक नहीं हो सकते। सर्वज्ञता एवं अल्पज्ञता में विरोध है और सर्व-शक्तिमत्ता एवं अल्प शक्तिमत्ता में भी विरोध है। उस विरोध को हटाने के लिए उन्होंने लक्षणावृत्ति का आश्रय लिया है, उसमें भी भागलक्षणा-वृत्ति का। किन्तु मुख्यावृत्ति की जिस अर्थ में सङ्गति रहती है, वहाँ लक्षणावृत्ति का ग्रहण करना अवैध माना गया है।

सारांश यह है कि श्रीपाद शङ्कराचार्य का मत समस्त भाष्यकार वैष्णवाचार्यपादों से विभिन्न है, प्रस्थानत्रय द्वारा भी अनुमोदित नहीं है।

श्रीमन्महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यदेव ने तथा उनके अनुयायी गौड़ीय-वैष्णवाचार्यवृन्द ने ब्रह्मसूत्र का धारावाहक कोई भाष्य नहीं रचा। अवश्य परवर्ती काल में श्रीबलदेव विद्याभूषणपाद ने श्रीगोविन्द जी की कृपा से ब्रह्मसूत्र का गोविन्द-भाष्य नामक भाष्य प्रकाशित किया। किन्तु श्रीकृष्ण-चैतन्य महाप्रभु ने नीलाचल में श्रीपाद सार्वभौम भट्टाचार्य के प्रति एवं वाराणसी में श्रीपाद प्रकाशानन्द सरस्वतीपाद के प्रति ब्रह्मसूत्रों के जिन मुख्यार्थों को प्रकाशित किया था तथा प्रयाग में श्रीरूपगोस्वामिपाद के प्रति और वाराणसी में श्रीसनातन गोस्वामिपाद के प्रति कृष्णतत्व, ब्रह्म-तत्व, जीवतत्व, भक्तितत्व, आदि की जो शिक्षा प्रदान की थी, श्रीगौड़ीय-वैष्णवाचार्यवृन्द का दर्शन-शास्त्र उसी पर प्रतिष्ठित है। श्रीरूपगोस्वामि-पाद ने श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु, श्रीउज्ज्वलनीलमणि आदि ग्रन्थों में तथा श्रीसनातन गोस्वामिपाद ने श्रीवृहद्भागवतामृत, श्रीमद्भागवत की वैष्णव-तोषणी नामक टीका में श्रीमन्महाप्रभु की शिक्षा का ही अनुसरण करते हुए समस्त तत्वों का निरूपण किया है। उसी ही आधार पर श्रीजीव गोस्वामिपाद ने स्वरचित श्रीभागवत-सन्दर्भ या षट्-सन्दर्भ में तथा 'सर्व-सम्वादिनी' में विशेष विचार पूर्वक निर्विशेषवादादि का खण्डन करते हुए सविशेषवाद एवं अचिन्त्यभेदाभेदवाद स्थापन किया है जो श्रीगौड़ीयवैष्णव-दर्शन का अपूर्व वैशिष्ट्य है। गौड़ीय-षट्गोस्वामिवृन्द ने अपनी रचनाओं में प्रसङ्गक्रम से ब्रह्मसूत्र के तत्व-प्रतिपादक मुख्य-मुख्य सूत्रों की विस्तृत व्याख्या की है। एक सर्वसम्वादिनी में ही एक सौ पन्द्रह ब्रह्मसूत्रों की व्याख्या समाविष्ट है। सर्वोपरान्त कविराज श्रीकृष्णदास गोस्वामिपाद ने उक्त षट्गोस्वामिपाद की समस्त रचनाओं के सार भाग को श्रीश्रीचैतन्य-चरितामृत ग्रन्थरत्न में एकत्रित कर मानों गागर में सागर भर दिया है। इस ग्रन्थरत्न में श्रीमन्महाप्रभु की अलौकिक लीलाओं के साथ-साथ गौड़ीय वैष्णव-दर्शन के समस्त तत्वों का उन्होंने विस्तृत वर्णन किया है।

कुमिल्ला-विक्टोरिया तथा चौमुहनी कालेज के भूतपूर्व अध्यक्ष कलकत्ता निवासी श्रीश्रीराधागोविन्दनाथ, एम० ए० डी-लिट्, परविद्याचार्य विद्यावाचस्पति, भांगवत-भूषण, भक्ति-सिद्धान्तरत्न, भक्तिभूषण, भक्ति-सिद्धान्त-भास्कर महोदय ने अति विशाल परमोपादेय श्रीगौड़ीय वैष्णव-दर्शन नामक ग्रन्थ सम्पादन किया है तथा श्रीगौरकृपा-तरङ्गिणी नामक

सुविस्तृत टीका सहित श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत^१ का चार खण्डों में अपूर्व सम्पादन किया है। इस ग्रन्थ के प्रथम खण्ड का नाम उन्होंने—श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत-भूमिका रखा है, जिसमें उन्होंने श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत वर्णित श्रीकृष्णतत्व, भक्तितत्व, धामतत्व, परिकरतत्व, सृष्टितत्व, प्रेमतत्व, श्रीराधातत्व, गोपीतत्व, जीवतत्व, पुरुषार्थ, सम्बन्धतत्व, अभिधेय एवं प्रयोजनतत्व आदि अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों की गवेषणापूर्ण विस्तृत आलोचना की है।

प्रस्तुत ग्रन्थ 'जीव-तत्व' उसी भूमिका (चतुर्थ संस्करण) में उल्लिखित जीवतत्व का अक्षरशः सफल अनुवाद है, जिसका श्रेय श्रीयुत जयदयाल डालमिया जी को है। उन्हीं की प्रेरणा एवं पूर्ण सहायता से ही श्रीहरिनाम सङ्कीर्तन मण्डल ने प्रस्तुत पुस्तक को जीव-तत्व के जिज्ञासु जीवों के लिए प्रकाशित किया है। इस ग्रन्थ में ब्रह्मसूत्र, श्रुति-स्मृति अर्थात् प्रस्थानत्रय मतानुसार ही जीव के स्वरूप की निरपक्ष भावपूर्वक विवेचना की गई है। कहीं-कहीं जो अप्रिय वाक्यों का प्रयोग है, वह परमार्थ-शास्त्र के आधार पर है। व्यवहारिक नीति-शास्त्र में तो कहा गया है—'सत्यं ब्रूयात्, प्रियं ब्रूयात्, न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्' अर्थात् सत्य बोलो तो प्रिय लगने वाला सत्य बोलो, अप्रिय लगने वाला सत्य भी मत बोलो। किन्तु परमार्थशास्त्र (श्रीविष्णुपुराण ३-१२-४४) में लिखा है—'श्रेयस्तत्रहितं वाक्यं यद्यप्यत्यन्तमप्रियम्'—अर्थात् परमार्थ विषय में यद्यपि अत्यन्त अप्रिय वचन हों, तो भी मङ्गलकारी होते हैं। अतः प्रसङ्गवश जहाँ अप्रियता प्रतीत होती है, उसमें परमार्थ वस्तु के वास्तविक स्वरूप का प्रतिपादन ही लक्ष्य है, किसी का अपकर्ष विशेष नहीं।

मैं आशा करता हूँ, इस ग्रन्थ से जीवस्वरूप-तत्वान्वेषी साधकों की भ्रान्त-धारणाओं का यथेष्ट समाधान होगा एवं उन्हें अपने साध्य के निर्णय करने में भी कोई अंशुविधा न रहेगी।

वैष्णव-पदरजाभिलाषी—

श्यामलाल हुक्मीन

मन्त्री-श्रीहरिनाम सङ्कीर्तन मण्डल

श्रीधाम-वृन्दावन।

१. इस सङ्कलन के चारों खण्ड हिन्दी-भाषा में भी श्रीहरिनाम सङ्कीर्तन मण्डल, श्रीधाम-वृन्दावन द्वारा प्रकाशित किए जा चुके हैं। गौड़ीय-वैष्णव-दर्शन का हिन्दी संस्करण मण्डल के भावी-प्रकाशनों में सम्मिलित है।

॥ श्रीगौराङ्गविधुजयति ॥

* जीव-तत्व *



वन्देऽहं श्रीगुरोः श्रीयुत्पदकमलं श्रीगुरुन् वैष्णवांश्च
श्रीरूपं साग्रजातं सहगणरघुनाथान्वितं तं सजीवम् ।
साद्व्रैतं सावधूतं परिजन सहितं कृष्णचैतन्यदेवं
श्रीराधाकृष्णपादान् सहगण ललिता—श्रीविशाखान्वितांश्च ॥

मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष, लता, गुल्म आदि जितने प्रकार की भी प्राणविशिष्ट वस्तुएँ इस परिदृश्यमान जगत् में दीखती हैं, उन सबका ही देह—शरीर है, जन्म है एवं मृत्यु है। जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त, प्रत्येक का शरीर चेतन रहता है, किन्तु मृत्यु के उपरान्त वह अचेतन हो जाता है—शरीर की सब वस्तुएँ रहती हैं, केवल चेतनता नहीं रहती। इससे समझा जाता है कि शरीर में एक ऐसी वस्तु है, जिसके प्रभाव से सम्पूर्ण शरीर चेतन एवं अनुभूति सम्पन्न बना रहता है, मृत्यु के समय वह वस्तु शरीर को छोड़कर चली जाती है, इसी से शरीर अचेतन और अनुभूतिहीन होकर पड़ा रह जाता है। एक अन्धकारमय घर में यदि दीपक जलाया जाय, तो घर का अन्धकार दूर हो जायगा और घर आलोकित हो जायगा, दीपक को अन्यत्र ले जाये जाने पर घर में फिर अँधेरा हो जायगा। इससे समझ में आता है कि दीपक आलोकमय है, यह दूसरे को भी आलोकित कर सकता है। इसी प्रकार जिस वस्तु के शरीर में रहने पर शरीर चेतनामय होता है और जिसके चले जाने पर शरीर अचेतन हो पड़ा रहता है, वह स्वयं भी चेतन है और अपने संस्पर्श से शरीर को भी चेतनामय कर देती है। इस चेतन वस्तु को ही 'जीव' कहते हैं—जो स्वयं जीवित है और दूसरे को भी जीवित कर सकता है, वही जीव है। मनुष्यादि स्थावर—जंगम के शरीर में

जब तक जीव रहता है, तब तक ही वे जीवित—जीवयुक्त रहते हैं। उनका शरीर इस जीव का आश्रय या आधार है, किन्तु शरीर या देह जीव नहीं है, देह की अपनी चेतना नहीं है, उसमें जीव की चेतना है। तथापि साधारणतया जीवविशिष्ट देह को ही जीव कहा जाता है—जैसे मनुष्य एक जीव है, सिंह एक जीव है, वृक्ष एक जीव है—इसी प्रकार साधारणतया कहने में आता है। पृथकता दिखाने के लिए प्रकृत-चैतन्यमय जीव को जीव स्वरूप या जीवात्मा कहा जाता है। जीवात्मा स्वरूपतः ही जीव है, और जीवात्मा विशिष्ट देह को—मनुष्य आदि को—केवल उपचारवश ही जीव कहा जाता है। मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादि नाम या रूप जीवात्मा के नहीं हैं। जीवात्मा जब मनुष्य-शरीर में रहता है, तब उस देह-संबलित अवस्था में मनुष्य के रूप में परिचित होता है और जब पशु-देह में रहता है तब पशु कहा जाता है। यह जीवात्मा कभी मनुष्य, कभी पशु, एवं कभी वृक्ष-गुल्म-लता इत्यादि नामों से भी परिचित होता है।

मनुष्य, पशु, पक्षी, तरु, लता, गुल्मादि के शरीर को सभी देख पाते हैं। कितने ही अति क्षुद्र, सूक्ष्म जीव हैं—जैसे रोग के कीटाणु आदि, जिन्हें हम केवल अणुवीक्षण यन्त्र आदि के द्वारा ही देख सकते हैं; किन्तु जीवात्मा यन्त्रादि की सहायता से भी नहीं देखा जा सकता। उसका अस्तित्व जाना जाता है—केवल उसके चेतनामय प्रभाव के द्वारा। जो जीव केवल अणुवीक्षण यन्त्रादि की सहायता से देखे जा सकते हैं, उनमें भी जीवात्मा है, यह उनके जीवन-मृत्यु से स्पष्ट जान पड़ता है।

मनुष्य-शरीर के, पशु-शरीर के और वृक्षादिव-शरीर के वैशिष्ट्य और उपादानादि वैज्ञानिक परीक्षा द्वारा निर्णय किये जाते हैं; किन्तु जीवात्मा के उपादान और वैशिष्ट्यादि वैज्ञानिक परीक्षा द्वारा निर्णय नहीं किये जा सकते। जिसको देखा नहीं जा सकता, पकड़ा-छुआ नहीं जा सकता, वह कभी भी वैज्ञानिक परीक्षा का विषय नहीं हो सकता। जीवात्मा स्वरूपतः क्या वस्तु है, उसके स्वरूपगत धर्म आदि किस प्रकार के हैं, यह केवल शास्त्रोक्ति द्वारा ही जाना जाता है। जीवात्मा के अर्थात् स्वरूपतः जीव के स्वरूप के सम्बन्ध में शास्त्र-सम्मत आलोचना नीचे दी जाती है।

जीव भगवान् की शक्ति है:—

जीव स्वरूपतः भगवान् की शक्ति है। श्रीविष्णुपुराण एवं श्रीगीता में उसके प्रमाण मिलते हैं। श्रीविष्णुपुराण (६-७-६१) में कहा गया है;—

विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता, क्षेत्रज्ञाख्या तथापरा ।

अविद्या कर्मसंज्ञाना, तृतीया शक्तिरिष्यते ॥१॥

“विष्णुशक्ति (स्वरूपशक्ति) पराशक्ति नाम से कही जाती है; दूसरी एक और शक्ति का नाम है—क्षेत्रज्ञाशक्ति (जीवशक्ति); और एक तीसरी शक्ति का नाम अविद्याकर्मशक्ति (बहिरङ्गा मायाशक्ति) है ।”

श्रीगीता (७-५) में भी उक्ति है:—

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृति विद्धि मे पराम् ।

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥२॥

श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है:—“हे महाबाहो ! (गीता में इस श्लोक के पूर्व श्लोक में जिस प्रकृति की बात कही गयी है, जड़ होने के कारण) वह निकृष्ट प्रकृति है । इससे भिन्न जीवशक्तिरूपा मेरी एक और (चैतन्यस्वरूप होने के कारण) उत्कृष्ट प्रकृति है, उसको तुम समझो । यह उत्कृष्ट प्रकृति ही (अर्थात् जीव-शक्ति का अंशरूप जीव ही अपने अपने कर्मफल के भोग के लिए बहिरङ्गाशक्तिभूत इस) जगत् को धारण करके रहती है ।”

श्रीमन्महाप्रभु ने भी कहा है—

“जीवतत्त्व शक्ति, कृष्णतत्त्व शक्तिमान ।

गीता-विष्णुपुराणादि इथे प्रमाण ॥”

(श्री चै० च० १-७-११२)

चिद्रूपा शक्तिः—

इससे यह स्पष्ट हुआ कि जीव है—भगवान् की जीवशक्ति । पूर्व उद्धृत विष्णुपुराण के “विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता” इत्यादि श्लोक से स्वरूपशक्ति और मायाशक्ति की तरह जीवशक्ति भी एक पृथक् शक्ति है, यही प्रतिपादित होता है । ‘विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता’ इत्यादि विष्णुपुराणवचने तु तिसृणामेव पृथक्शक्तिर्बनिर्देशात् ॥—(परमात्मसन्दर्भ २५) ।

पूर्वाद्धत ‘अपरेयमितस्त्वन्यां’ इत्यादि गीतोक्त (७।५) श्लोक की टीका में श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्ती ने लिखा है:—बहिरङ्गा मायाशक्ति से जीवशक्ति को उत्कृष्ट बताने का हेतु यह है कि मायाशक्ति तो है जड़, जबकि जीवशक्ति है चेतनमयी । ‘इयं प्रकृतिर्बहिरंगा शक्तिः, अपरा अनुत्कृष्टा जड़त्वात् । इतोऽन्यां प्रकृतिं तदस्थां जीवभूतां परामुत्कृष्टां विद्धि चैतन्यात् ।’ उक्त श्लोक का श्रीधर स्वामिपाद द्वारा किया हुआ अर्थ भी इसी प्रकार है एवं श्रीपाद शंकराचार्य के अर्थ का मर्म भी इसी तरह का है । इससे जाना गया कि जीवशक्ति चैतन्यमयी, चिद्रूपा है । परमात्मसन्दर्भ(१६)का भी यही मत है—‘ज्ञानाश्रयो ज्ञानगुणश्चेतनः प्रकृतेः परः । न जड़ो न विकारी ॥

दैवात् क्षुभितधर्मिण्यां स्वस्यां योनौ परः पुमान् ।

आधत्त वीर्यं सासूत महत्तत्त्वं हिरण्मयम् ॥३॥

(श्री भा० ३-२६-१६)

इस श्लोक की टीका में 'वीर्यं' शब्द का अर्थ श्रीपाद विश्वनाथचक्रवर्ती ने लिखा है—जीवशक्त्याख्यं चैतन्यम् । श्रीजीव गोस्वामीपाद ने लिखा है—जीवाख्यचिद्रूपशक्तिम् एवं श्रीधरस्वामिपाद ने लिखा है—चिच्छक्तिम् । इससे स्पष्ट होता है कि जीवशक्ति चैतन्यस्वरूप-चिद्रूपा शक्ति है । समय-समय पर इसको चिच्छक्ति भी कहा जाता है । किन्तु यह चिच्छक्ति स्वरूपशक्तिरूपा चिच्छक्ति नहीं है ।

तटस्था शक्तिः—

यह जीवशक्ति स्वरूपशक्ति के अन्तर्भुक्त तो है ही नहीं, माया-शक्ति के अन्तर्भुक्त भी नहीं है ।

स्वकृतपुरेष्वामीष्वबहिरन्तरसंवरणं

तव पुरुषं वदन्त्यखिलशक्तिधृतोऽशकृतम् ।

इति नृगतिं विविच्य कवयो निगमावपनं

भवत उपासतेऽङ्घ्रिमभवं भुवि विश्वसिताः ॥४॥

(श्री भा० १०।८७।२०)

इस श्लोककी टीकामें "अबहिरन्तरसंवरणम्" शब्दके अर्थमें श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्ती ने लिखा है 'न विद्यते बहिर्बहिरंगामायाशक्त्या अन्तरेणास्तरंग-चिच्छक्त्या च सम्यग् वरणं सर्वथा स्वीयत्वेन स्वीकारो यस्य तम् ॥'

इस प्रकार बहिरङ्गा मायाशक्ति एवं अन्तरङ्गा चिच्छक्ति के बीच अपने निजी रूपसे स्वीकृत न होनेके कारण, जीवशक्ति को (स्वरूपशक्ति और मायाशक्ति से पृथक्) 'तटस्था' शक्ति भी कहते हैं 'अथ तटस्थत्वञ्च उभयोकोटावप्रविष्टत्वादेव । (परमात्मसन्दर्भ-३६)'

इस चिद्रूपा जीवशक्ति को श्रीनारदपञ्चरात्रमें भी तटस्था-शक्ति बताया है—

यत्तटस्थं तु चिद्रूपं स्वसंवेद्याद्विनिर्गतम् ।

रञ्जितं गुणारोगेण स जीव इति कथ्यते ॥५॥

परमात्मसन्दर्भ (२६) धृतवचनम् ॥

उक्त आलोचनासे यह स्पष्ट हो गया कि जीवशक्ति चिद्रूपाशक्ति होते हुए भी भगवान्की स्वरूपशक्तिरूपा चिच्छक्ति नहीं है । सच्चिदानन्द

श्रीकृष्णके चिदंशको शक्ति का नाम ही स्वरूपशक्ति-रूपा चिच्छक्ति है। चिद्रूपा जीवशक्ति हुई—जीवशक्ति-विशिष्ट कृष्णका अंश, स्वरूपशक्ति-विशिष्ट कृष्णका अंश नहीं। जीवशक्ति जड़ नहीं है, किन्तु चैतन्यमयी है—यही समझानेके लिए इसको चिद्रूपा कहा जाता है। भगवत् स्वरूपमें इस शक्तिकी स्थिति न होनेके कारण यह स्वरूपशक्तिरूपा चित्-शक्ति नहीं है।

जीव भगवान्का अंश है—

जीव भगवान्का अंश है—यह श्रीकृष्णने स्वयं श्रीगीता (१५-७) में अर्जुनको बताया है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ॥

वेदान्तके मतमें भी जीव ब्रह्मका अंश है—“अंशो नानाव्यपदेशात् अन्यथा च अपि दाशकितवादित्वम् अधीयत एके (२-३-४३) ।”—इस सूत्रमें जीवको ब्रह्मका अंश बताया है। अंशः - परमेश्वरका अंश जीव; अंशु-किरणों, जैसे सूर्यका अंश हैं, और सूर्यके साथ सम्बन्धकी अपेक्षा रखती हैं, उसी प्रकार जीव ईश्वरका अंश है और ईश्वरके साथ सम्बन्धकी अपेक्षा रखता है। जीवको ईश्वरका अंश क्यों कहा गया ?—“नाना व्यपदेशात्”—ईश्वरके साथ जीवके अनेक प्रकार सम्बन्धोंका उल्लेख है, इसलिये; जैसे सुवालश्रुति कहती है “दिव्यो देव एको नारायणो माता पिता भ्राता निवासः शरणं सुहृद्गतिर्नारायण” इति। एक नारायण ही माता, पिता, भ्राता, निवास, शरण, सुहृद्गति हैं।”

स्मृतिशास्त्र भी कहते हैं—“गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृद् इत्यादि—ईश्वर ही जीवकी गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण एवं सुहृद् हैं।” इस प्रकार देखनेमें आता है कि स्मृति-श्रुतिमें भी जीवके साथ ब्रह्मके अनेक प्रकारके सम्बन्धोंका उल्लेख है। इसीसे जीव ब्रह्मके साथ सम्बन्धकी अपेक्षा रखता है, यह प्रमाणित होता है। ब्रह्म नियन्ता है, जीव नियन्त्रित; ब्रह्म आधार है, जीव आधेय; ब्रह्म प्रभु है, जीव दास-इत्यादि अनेक प्रकारके सम्बन्धोंका उल्लेख स्मृति-श्रुतिमें पाया जाता है।

‘अन्यथा च अपि’—अन्य रूपसे भी उल्लेख है। पूर्वोल्लिखित अनेक प्रकारके सम्बन्धके उल्लेखमें ब्रह्मके साथ जीवका भेद सूचित हुआ है। अन्यरूप अर्थात् अभेदका उल्लेख भी देखनेमें आता है। ‘दाशकितवादित्वम् अधीयत एके-कोई कोई आथर्वणिक लोग कहते हैं ब्रह्म ही दास-कितवादिरूप जीव है। ब्रह्मदासा ब्रह्मदात्या ब्रह्मो शे कितवा इति—कैवर्त्त, मृत्य, कपटी, ये सभी

ब्रह्म हैं। किन्तु स्वरूपतः जीव और ब्रह्म अभिन्न होनेसे इस प्रकारका व्यपदेश सम्भव नहीं। कोई कभी भी अपना न व्याप्य हो सकता है, न सृज्य। चैतन्यघन ब्रह्मवस्तुका स्वरूपतः दास आदि भाव भी सम्भव नहीं—(गोविन्द भाष्य)। इसलिए भाष्यकारने अन्त में सिद्धान्त किया है—“जीव ब्रह्मकी शक्ति होनेके कारण ही ब्रह्मका अंश है”।

श्रीपाद रामानुजका कहना है—“जीव और ब्रह्मके बीच भेदका उल्लेख देखनेमें आता है और अभेदका भी। इसलिए यही समझना होगा कि जीव ब्रह्मका अंश है; क्योंकि अंश और अंशीके बीच भेद भी है, अभेद भी।

श्रीपाद शंकराचार्यने भी अपने भाष्यके उपसंहारमें कहा है—“अतो भेदाभेदावगमाभ्यामंशत्वावगमः—श्रुतिकी उक्तिके अनुसार जीव और ब्रह्मके बीच भेद एवं अभेद दोनों ही हैं, इसलिये जीव-ब्रह्मका अंशांशीभाव ही प्रतीत होता है।”

परवर्ती ‘मन्त्रवर्णात् च (२-३-४४)’ सूत्रमें भी कहा है एवं वेदों के मन्त्रांशसे भी जाना जाता है कि जीव ब्रह्मका अंश है। पुरुषसूक्तमें लिखा है—‘पादोऽस्य सर्वभूतानि—सर्वभूत समुदाय ब्रह्मका एक अंश है।’ यहाँपर ‘सर्वभूत’ शब्दसे चराचर विश्वको लक्ष्य किया गया है, जिसमें जीव ही प्रधान है—(शंकरभाष्य)।

श्रीपाद रामानुज एवं श्रीपाद बलदेवविद्याभूषण (गोविन्दभाष्यमें) कहते हैं कि उक्त मन्त्रमें ‘भूतानि’ शब्दसे जीवात्मा बहुसंख्यामें है, यही सूचित होता है।

परवर्ती ‘अपि च स्मर्यते (२-३-४५)’ सूत्रमें कहा गया है—स्मृतिसे भी जाना जाता है कि जीव ब्रह्मका अंश है। इसके प्रमाण रूपमें श्रीपाद शंकर-आचार्य आदि भाष्यकारोंने ‘ममैवांशो जीवलोके’ इत्यादि श्रीगीताके श्लोकों का उल्लेख किया है।

यहाँ पर प्रश्न उठ सकता है कि जीव ब्रह्मका अंश है, तो जीवको—मायाबद्ध जीवको—दुःख होनेपर ब्रह्मको भी उसी प्रकार दुःख होगा, जैसे किसी भी व्यक्तिके देहके अंश हस्त-पादादि आहत होनेपर, उस व्यक्तिको दुःख होता है। परवर्ती सूत्रमें व्यासदेव इसका उत्तर देते हैं।

‘प्रकाशादिवत् न एवं परः (२-३-४६)’—‘न एवं परः—जीव जैसे दुखी होता है, उस प्रकार ब्रह्म नहीं होता—प्रकाशादिवत्—सूर्यकी तरह।’

सूर्यके प्रकाशमें अँगुली धरकर उसे टेढ़ा करनेपर सूर्यका प्रकाश भी टेढ़ा हो गया है, ऐसा लगता है; किन्तु वह वक्रता सूर्यको स्पर्श नहीं करती। ब्रह्म आनन्दस्वरूप है। मायाबद्ध जीव देहात्म-बुद्धिका पोषण करता है, इसलिये देहके दुःखको अपना दुःख मानकर दुखी होता है— (शंकरभाष्य) ॥

परवर्ती 'स्मरति च' (२-३-४७) सूत्रमें और स्मृतिमें भी ब्रह्मकी निर्लिप्तताकी बात कही गयी है। 'न लिप्यते कर्मफलैः पद्मपत्रमिवाभसा ॥ पद्म-पत्र जैसे जलके द्वारा लिप्त नहीं होता, वैसे ब्रह्म भी कर्मफल से लिप्त नहीं होता।' श्रुति भी यही कहती है—'तयोः अन्यः पिप्पलं स्वादु अति अनशनन् अन्योऽभिचाकशीति—ब्रह्म और जीव इन दोनों में एक (जीव) पक्व कर्मफलका भक्षण करता है, दूसरा (ब्रह्म) भक्षण नहीं करता, केवल दर्शन करता है'—(शंकरभाष्य)।

इन सब वेदान्त-सूत्रोंमें जीवके ब्रह्मांशत्वका ही प्रतिपादन हुआ है।

जीव श्रीभगवान्का किस प्रकारका अंश है ?—

यहाँपर प्रश्न उठता है कि जीव अथत् जीवात्मा ब्रह्मका किस प्रकारका अंश है ?

श्रीपाद बलदेवविद्याभूषणने वेदान्तसूत्रके गोविन्दभाष्यमें इस विषयकी आलोचना की है। 'अंशो नानाव्यपदेशात्'—इत्यादि २।३।४३ सूत्रके भाष्यमें उन्होंने कहा है—'न चेशस्य मायया परिच्छेदः तस्य तदविषयत्वात्--जीव मायाद्वारा परिच्छिन्न ब्रह्मका अंश नहीं हो सकता; क्योंकि ब्रह्म मायाका विषय नहीं है। माया ब्रह्मको स्पर्श भी नहीं कर सकती, परिच्छेदन किस प्रकार करेगी ?' इसके बाद कहा है 'न च टङ्कुच्छिन्नपाषाण-खण्डवत्तच्छिन्न स्तत्खण्डो जीवः अच्छेद्यत्वशास्त्रव्याकोपात् विकाराद्यापत्तेश्च—छेनी द्वारा टूटे हुए पत्थरके छोटेसे टुकड़ेकी तरह ब्रह्मका जीव एक विच्छिन्न अंश ही है, यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि शास्त्र-वाक्य है—'ब्रह्म अच्छेद्य है'। इसके अतिरिक्त ब्रह्मको इस प्रकार छेदन किया जा सके, तोड़कर अलग किया जा सके—ऐसा माननेपर ब्रह्ममें विकार-दोष भी स्वीकार करना होगा; किन्तु शास्त्रानुसार ब्रह्म विकारहीन है। अन्तमें उन्होंने सिद्धान्त निर्णय किया है—'तत्त्वं च तस्य तच्छक्तित्वात् सिद्धम्—ब्रह्मकी शक्ति होनेके कारण ही जीव ब्रह्मका अंश है, यही तत्त्व है, यही सिद्धान्त है।' शक्ति होनेसे किस प्रकारसे अंश हो सकता है, इसका

भी भाष्यकारने विचार किया है। 'एकवस्त्रेकदेशत्वमंशत्वमित्यपि न तद-
तिक्रामति । ब्रह्म खलु शक्तिमदेकं वस्तु ब्रह्मशक्तिर्जीवो ब्रह्मैकदेशत्वात्
ब्रह्मांशो भवति ।—किसी वस्तुका एकदेश ही उसका अंश होता
है। ब्रह्मकी शक्ति जीव भी ब्रह्मका एकदेश है; इसलिये ब्रह्म एक शक्ति-
मान् है। जीव ब्रह्मकी शक्ति होने के कारण उससे अपृथक् है।'

उक्त सिद्धान्त श्रीपाद जीवगोस्वामी के सिद्धान्तके ही अनुगत है।
'तदस्था-शक्ति' उपशीर्षकके अन्तर्गत उद्धृत श्रीमद्भागवत (१०।८।२०) के
'स्वकृतपुरेष्वमीष्वबहिरन्तरसंवरणम् इत्यादि' श्लोकका प्रमाण उद्धृत करके,
अपने परमात्मसंदर्भमें श्रीजीवगोस्वामीने सिद्धान्त निर्णय किया है—तत्र
शक्तिरूपत्वेनेवांशत्वं व्यञ्जयति (३१)—शक्तिरूपसे जीव ब्रह्मका अंश
है।

अब प्रश्न उठता है कि जीव क्या ब्रह्मका केवल शक्तिरूपसे ही अंश
है? अर्थात् जीवमें ब्रह्मकी केवल शक्ति है या शक्तिमान् के सहित शक्ति
है? पूर्वोद्धृत गाविन्दभाष्यमें आया है—'ब्रह्म खलु शक्तिमदेकं वस्तु—
शक्तिमान् ब्रह्म ही एकमात्र वस्तु है।' 'एकमात्र वस्तु' कहनेका तात्पर्य
यही है कि ब्रह्मसे ब्रह्मकी शक्तिको पृथक् नहीं किया जा सकता।
'मृदमदतार गन्ध जंछे अविच्छेद । अग्नि ज्वालाते जंछे नाहि कभू भेद ।'—(श्री
चै० च० १-४-८४)—'जैसे (मृगमद) (कस्तूरी) अपनी गन्धसे अविच्छेद्य है,
अग्नि और ज्वालामें जैसे कोई भेद नहीं है, वैसे ही ब्रह्म और ब्रह्मकी शक्ति
अविच्छेद्य हैं'। इससे समझा जाता है कि शक्तियुक्त ब्रह्म अथवा शक्तिमान्
के साथ जुड़ी हुई शक्ति ही जीव है।

फिर प्रश्न उठता है—जीव कौन-सी शक्तिसे संयुक्त ब्रह्मका अंश
है?—ब्रह्मके साथ उसकी सब शक्तियोंका योग एक-सा नहीं है। बहिरङ्गा
मायाशक्ति ब्रह्मसे अविच्छिन्न है; फिर भी, उसके साथ ब्रह्मका संयोग
स्वरूप-शक्तिकी तरह नहीं है। स्वरूपशक्ति रहती है ब्रह्मके स्वरूपमें किन्तु
मायाशक्तिके साथ ब्रह्मका स्पर्श भी नहीं है। तथापि ब्रह्म मायाशक्तिका
नियन्ता है, मायाशक्ति ब्रह्मद्वारा नियन्त्रित है, और उसकी सत्ता ब्रह्म पर
ही निर्भर करती है। ब्रह्मके व्यतिरेकसे मायाका भी व्यतिरेक होनेके कारण
मायाशक्ति ब्रह्मके साथ अविच्छेद्य भावसे संयुक्त है, जैसा कि श्रीमद्भागवत
(२-६-३२) में श्रीभगवान् ने कहा है—

ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि ।

। तद्विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः ॥६॥

“मेरी प्रतीति न होने पर जिसकी प्रतीति होती है, एवं मेरे बिना जिसकी स्वतः प्रतीति नहीं होती, उसको तू मेरी माया जान, जैसे प्रतिबिम्ब और अन्धकार” ॥

तो क्या मायाशक्तिसे संयुक्त ब्रह्म ही जीव है ?—ऐसा भी नहीं, कारण कि “अपरेयमितस्त्वन्याम्”—इत्यादि (श्लोक सं० २) में जीवशक्ति को मायाशक्तिसे भिन्न एवं उत्कृष्ट बताया गया है; उत्कृष्ट बतानेका हेतु यह है कि मायाशक्ति जड़ है, किन्तु जीवशक्ति चेतनामयी है। जीव अर्थात् जीवात्मा यदि मायाशक्तियुक्त ब्रह्मका अंश होता, तो इसे मायाशक्तिसे भिन्न और उत्कृष्ट न कहा जाता।

तब क्या जीव स्वरूपशक्तियुक्त ब्रह्मका अंश है ?—श्रीपाद बलदेव-विद्याभूषणने ‘अंशो नानाव्यपदेशात्’—इत्यादि वेदान्तसूत्र (२-३-४३) के गोविन्दभाष्यमें इस विषयपर विचार किया है। जीव यदि स्वरूपशक्तियुक्त ब्रह्मका ही अंश हो, तो ब्रह्ममें और जीवमें स्वरूपतः कोई भेद नहीं रहता। जीव सृज्य है, ब्रह्म स्रष्टा; जीव नियम्य है, ब्रह्म नियन्ता; जीव व्याप्य है, ब्रह्म व्यापक—इत्यादि सम्बन्ध श्रुति-स्मृतिमें प्रसिद्ध हैं। जीव और ब्रह्म यदि स्वरूपतः अभिन्न होते तो दोनोंके बीच उक्तरूप के सम्बन्ध नहीं हो सकते। स्वयं कोई भी स्रष्टा और सृज्य, अथवा व्यापक और व्याप्त नहीं हो सकता। ‘न हि स्वयं सृज्यादिव्याप्यो वा।’—(गोविन्दभाष्य) ॥ अतएव जीव स्वरूपशक्तियुक्त ब्रह्मका (अर्थात् स्वरूपशक्तियुक्त श्रीकृष्ण का) अंश नहीं हो सकता। श्रीपाद जीवगोस्वामी के सिद्धान्तकी प्रतिध्वनि भी यही है।

जैसा हमने देखा कि जीव अर्थात् जीवात्मा शक्तियुक्त ब्रह्मका अर्थात् श्रीकृष्णका अंश है; किन्तु जीव मायाशक्तियुक्त श्रीकृष्णका अंश नहीं है, और स्वरूपशक्तियुक्त श्रीकृष्ण का भी अंश नहीं है। शेष रही जीवशक्ति। तब जीव अर्थात् जीवात्मा क्या जीवशक्तियुक्त श्रीकृष्णका अंश है ?—पूर्वल्लिखित श्रीमद्भागवत (१०।८७।२४)के **स्वकृतपुरेष्वमी-ष्वबहिरन्तरसंदरणम्** इत्यादि श्लोककी व्याख्या करते हुए श्रीपाद जीव गोस्वामीने अपने परमात्म-सन्दर्भ (३१) में बताया है—‘अंशकृतमंशमित्यर्थः अखिलशक्तिधतः सर्वशक्तिधरस्येति विशेषणं जीवशक्तिविशिष्टस्यैव तत्र

जीवोंऽशः न तु शुद्धस्थेति ।' इससे जाना जाता है कि श्रुतियों के कथना-नुसार 'जीव जीवशक्तिविशिष्ट श्रीकृष्णका ही अंश है, शुद्ध श्रीकृष्णका नहीं । (श्रीमद्भागवतका उक्त श्लोक श्रुतिगण द्वारा की गयी श्रीकृष्ण—स्तुतिके अन्तर्भुक्त है)—

किन्तु 'जीव शुद्धकृष्णका अंश नहीं है'—इस बातका तात्पर्य क्या है ? शुद्धकृष्ण किसे कहते हैं ?—उल्लिखित श्रीमद्भागवत के (१०-८-७२४वें) श्लोककी वैष्णवतोषणो टोकामें श्रीपाद सनातनगोस्वामीने लिखा है— 'तदेवमन्तर्यामित्वांशेऽपि भगवतः शुद्धत्ववर्णनेन तत्पराणां श्रुतीनां वचनं श्रुत्वा' इत्यादि । इससे स्पष्ट है कि अन्तर्यामित्व-अंशसे ही श्रीभगवान्का (अर्थात् ब्रह्मका) शुद्धत्व है । स्वरूपशक्ति-समन्वित ब्रह्म या श्रीकृष्ण ही अन्तर्यामी हैं । अतएव स्वरूपशक्तिसमन्वित श्रीकृष्ण ही 'शुद्धकृष्ण' हैं । इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जब जीव स्वरूपशक्तियुक्त श्रीकृष्णका अंश नहीं है, तब जीवमें स्वरूपशक्ति भी नहीं है । जीवमें स्वरूपशक्ति नहीं है—विष्णुपुराण (१-१२-६६) में भी यही कहा गया है—

ह्लादिनी सन्धिनी संवित् त्वय्येका सर्वसंस्थितौ ।

ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते ॥ ७ ॥

“आपकी स्वरूपभूता ह्लादिनी, सन्धिनी एवं संवित् ये तीनों शक्तियां सब के अधिष्ठानरूप आप में रहती हैं और ह्लादकरी (सात्विकी-प्रसन्नता देने वाली) तापकरी (तामसी-तापों के देने वाली) एवं मिश्रा (राजसी--हर्ष एवं ताप को देने वाली) ये तीनों शक्तियां गुणातीत आप में नहीं रहती हैं । तात्पर्य यह है कि जीव में श्री भगवान् की स्वरूप-शक्ति नहीं रहती और श्रीभगवान् में त्रिगुणमयी शक्तियों का अवस्थान नहीं है ॥”

प्रश्न हो सकता है कि जब स्वरूपशक्ति ही ब्रह्म या श्रीभगवान्के स्वरूपमें अवस्थित है और जीवशक्ति नहीं, तो श्रीभगवान् किस प्रकार जीवशक्ति के साथ संयुक्त हो सकते हैं ? परमात्मसन्दर्भमें इसका समाधान मिलता है । श्रीमद्भागवतके (११-२२-६)—

परस्परानुप्रवेशात् तत्त्वानां पुरुषर्षभः ।

पौर्वापर्यं प्रसंख्यानं यथा वक्तुर्विवक्षितम् ॥ ८ ॥

—इस श्लोकके प्रमाण में श्रीजीवगोस्वामीने कहा है:—सर्वेषामेव तत्त्वानां परस्परानुप्रवेशविवक्षयैक्यं प्रतीयत इत्येवं शक्तिमति परमात्मनि

जीवाख्यशक्त्यनुप्रवेशविवक्षयैव तयोरेक्यपक्षे हेतुरित्यभिप्रैति—(परमात्म-सन्दर्भः—३४) । इस उक्तिसे जाना जाता है कि शक्तिमान् परमात्मामें अर्थात् भगवान्में जीवशक्ति अनुप्रविष्ट है । इस अनुप्रवेशके कारण ही भगवान् जीवशक्ति संयुक्त हैं ।

और भी प्रश्न हो सकता है कि श्रीभगवान् के स्वरूपमें ही तो स्वरूपशक्ति नित्य वर्तमान है । उन्हीं श्री भगवान्में जब जीवशक्ति अनुप्रवेश करती है, तब उन जीवशक्तिविशिष्ट भगवान्में स्वरूपशक्ति भी तो रहेगी,—क्योंकि स्वरूपशक्ति भगवान्के स्वरूपमें अविच्छेद्यरूपसे विराजित रहती है । ऐसा होनेपर फिर जीवशक्तिविशिष्ट-श्रीकृष्णके अंश जीवमें स्वरूपशक्ति क्यों नहीं रहती ? मिश्रीका शरवत सर्वदा ही मीठा होता है, उसमें यदि नीबूका रस मिला दिया जाय तो शरवत का मीठापन लुप्त नहीं होता ।

इसके उत्तरमें इतना कहना पर्याप्त है कि—ईश्वर की अचिन्त्य शक्ति के कारण यह असम्भव नहीं है । प्राकृत जगत्में भी ऐसी बात देखी जाती है । कोई विचारपति (न्यायाधीश) अपने व्यक्तिगत जीवनमें कोमलचित्त एवं अत्यन्त दयालु हो सकता है; किन्तु जब वह विचारासन पर बैठता है, तब कानूनके अनुगत उसको न्यायपरायणता आश्रय करती है, तब वह प्राणदण्डका आदेश भी दे सकता है । तब उसके चित्तकी कोमलता एवं दयालुता मानो निद्रित रहती है और न्यायपरायणता ही उसके चित्तपर अधिकार किये रहती है । न्यायपरायणता के उसमें अनु-प्रवृष्ट होने के कारण उसकी असाधारण शक्ति होते हुए भी चित्तकी कोमलता एवं दयालुता वहाँ भाँक नहीं सकती । भगवान् के सम्बन्ध में भी यही बात है । जीवशक्ति जब उनमें अनुप्रवेश करती है, तब उनकी अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे उनकी स्वरूपशक्ति किंचित् मात्र भी विकसित नहीं होती, जीवशक्ति ही प्रकाशित होती है । स्वरूपशक्ति ईश्वरमें नित्य अवस्थित रहनेपर भी विकास प्राप्त नहीं करती, निर्विशेष ब्रह्मस्वरूप ही इसका प्रमाण है । स्वरूपशक्ति-विकासहीन ब्रह्ममें अनुप्रविष्ट जीवशक्ति अनादि कालसे विराजित है, इस तत्त्वको ही श्रीजीवगोस्वामीने जीवशक्ति-विशिष्ट कृष्ण बताया है एवं इसी जीवशक्तिविशिष्ट कृष्णका ही अंश जीवात्मा है ।

अतएव जीव या जीवात्मा केवल शक्तिका ही अंश नहीं, जीवशक्ति-विशिष्ट कृष्णका अंश है ।

जीव विभिन्नांश है—

भगवान्के अंश दो प्रकार के हैं—स्वांश और विभिन्नांश; जैसा कि परमात्म-सन्दर्भ (४५) में कहा गया है—

तत्र द्विविधा अंशाः स्वांशा विभिन्नांशाश्च ।

विभिन्नांशास्तटस्थशक्त्यात्मका जीवा इति वक्ष्यते ।

स्वांशास्तु गुणलीलाद्यवतारभेदेन विविधाः ॥ ६ ॥

लीलावतार-गुणावतारादि विभिन्न भगवत्-स्वरूप भगवान्के स्वांश हैं और जीव उनका विभिन्नांश है। श्री श्रीचैतन्य चरितामृत (२-२२-५ से ७) में कविराज ने कहा है—

अद्वय-ज्ञानतत्त्व कृष्ण स्वयं भगवान् ।

स्वरूप-शक्तिरूपे तारं ह्यवस्थान ॥

स्वांश विभिन्नांश रूपे हृदया विस्तार ।

अनन्त वैकुण्ठब्रह्माण्ड करने विहार ॥

स्वांश-विस्तार—चतुर्व्यूह अवतारगण ।

विभिन्नांश जीव तारं शक्तिते गणन ॥

“स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण अद्वयज्ञानतत्त्व हैं। वे स्वरूप रूपसे एवं शक्तिरूप से अवस्थान करते हैं। वे स्वांश और विभिन्नांश रूपों से अनेक-रूप धारणकर अनन्त वैकुण्ठों एवं ब्रह्माण्डों में विहार करते हैं। चतुर्व्यूह और अनन्त अवतार उनके स्वांश हैं और जीव, जिसकी गणना उनकी शक्ति में की गई है, वह उनका विभिन्नांश है ॥”

इस सम्बन्धमें श्रीमद्भागवत (१०-८७-२०) के ‘स्वकृतपुरेष्णमीष्वब-हिरन्तरसंवरणम्’ इत्यादि श्लोककी वैष्णवतोषणी टीकामें श्रीपाद सनातनगोस्वामीने लिखा है—

‘मण्डलस्थानीयस्य भगवत स्वल्पशक्तिव्यवितमयाविर्भावविशेष-त्वात् स्वांशत्वं श्रीमत्स्यदेवादीनां रश्मिस्थानीयत्वात् विभिन्नांशत्वं जीवाना-मिति तत्त्ववादिनः । अत्र तदुदाहृतं महावाराह-वचनञ्च ।

स्वांशश्चाथ विभिन्नांश इति द्वेधांश इष्यते ।

अंशिनो यत्तु सामर्थ्यं यत्स्वरूपं यथास्थितिः ॥१०॥

नदेव नाणुमात्रोऽपि भेदः स्वांशांशिनोः क्वचित् ।

विभिन्नांशोऽल्पशक्ति स्यात् किञ्चित् सामर्थ्यमात्रयुक्त ॥११॥

तात्पर्य यह है:—

एकदेशस्थितस्याग्नेर्ज्योत्सना विस्तारिणी यथा ।

परस्य ब्रह्मणः शक्ति स्तथेदमखिलं जगत् ॥

(वि० पु० १।२।५३)

विष्णुपुराण के इस श्लोकानुसार स्वयं भगवान् श्रीकृष्णको सूर्य-मण्डल तुल्य एवं परिदृश्यमान जगत्को, (अतएव जीवको) भी उनकी किरण तुल्य माना गया है। किरणें सूर्यमण्डलके बाहर रहती हैं, यद्यपि वे सूर्यकी अंश हैं, सूर्यमण्डलके मध्य नहीं रहतीं। उसी प्रकार जीवकी स्थिति है, किन्तु ईश्वरका अंश होनेपर भी ईश्वरके मध्य न रहकर बाहर ही रहता है। अनन्त भगवत्-स्वरूपोंके पृथक्-पृथक् विग्रह नहीं हैं; वे सब स्वयं भगवान्के ही विग्रहके अन्तर्भुक्त हैं। शक्तिमें भी वे श्रीकृष्ण की अपेक्षा न्यून हैं। इसीसे श्रीकृष्ण अंशी हैं, और अनन्त-भगवत्-स्वरूपोंमें प्रत्येक स्वरूप उनका ही अंश है। वे सूर्यमण्डलस्थानीय श्रीकृष्णके ही अल्प-शक्तिव्यक्तिमय आविर्भावविशेष हैं और श्रीकृष्णके ही स्वरूपके अन्तर्भुक्त हैं। उनके और श्रीकृष्णके बीच स्वरूपतः कोई भेद नहीं है। वे श्रीकृष्ण के ही स्वरूपके अन्तर्भुक्त होनेके कारण स्वरूपशक्तिविशिष्ट कृष्णके अंश हैं; इसीलिये इन समस्त भगवत्-स्वरूपोंको श्रीकृष्णाका स्वांश कहा जाता है। इनमें स्वरूप-शक्ति है। किरण-स्थानीय जीव श्रीकृष्णका विभिन्नांश है। विभिन्नांश अल्पशक्ति व सामान्य-सामर्थ्ययुक्त है। स्वरूपशक्तिविशिष्ट कृष्णके अंशको स्वांश कहते हैं, जैसे—चतुर्व्यूह, परव्योमस्थ अनन्त भगवत्-स्वरूप, पुरुषत्रय, लीलावतार, गुणावतार आदि। और जीवशक्तिविशिष्ट-कृष्णके अंशको विभिन्नांश कहते हैं। विभिन्नांशमें स्वरूपशक्ति नहीं होती। श्रीकृष्णकी स्वरूपशक्तिके वृत्तिविशेष परिकरगण भी स्वरूपशक्तिकी वृत्ति होनेके कारण स्वांशके अन्तर्भुक्त हैं।

सूर्य-रश्मि जिस प्रकार सर्वदा सूर्यके बाहर रहती हैं, उसी प्रकार जीव भी सर्वदा कृष्णस्वरूपके बाहर रहता है। सूर्यरश्मि जिस प्रकार कभी भी सूर्यमण्डलके अन्तर्भुक्त नहीं होती, जीव भी वैसे कभी भी कृष्ण-स्वरूपके अन्तर्भुक्त नहीं हो सकता—मुक्त अवस्थामें भी। प्रतीत होता है कि इसीलिये जीवको विभिन्नांश अर्थात् विशेष रूपसे भिन्न-अंश कहा गया है।

जीवका परिमाण या आयतन—

जीवात्मा परिमाणमें विभु (सर्वव्यापक) है, मध्यमाकार है, या अति क्षुद्र अणुपरिमाण है ?—

जीवात्मा यदि विभु अर्थात् सर्वव्यापक हो तो उसके लिये एक स्थानसे दूसरे स्थानपर यातायात (आवागमन) सम्भव नहीं है, किसी आधारसे आवद्ध होकर या उस आधारसे बाहर जाना भी सम्भव नहीं है । किन्तु कौषीतकी श्रुति कहती है—जीवात्मा संसार में स्थित स्थावर-जङ्गम प्राणियोंके शरीरसे बाहर निकलकर जाता है—‘स यदा अस्मात् शरीरात्-उत्क्रामति सह एव एतैः सर्वैः उत्क्रामति’ (३-३)—जीवात्मा जब हमारे शरीरसे बाहर निकलता है, तब बुद्धि, इन्द्रिय आदि सबके साथ बाहर निकलता है । जीवात्मा एक स्थानसे अन्य स्थानमें जाता है, यह भी कौषीतकी श्रुतिसे ज्ञात होता है—‘ये वै के च अस्मात् लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति (१-२)—जो इस पृथ्वीसे जाते हैं, वे सभी चन्द्रलोकको जाते हैं ।’ आगमन करनेकी बात भी वृहदारण्यक-श्रुतिसे जानी जाती है—‘तस्माल्लोकात् पुनरेति अस्मै लोकाय कर्मणे (४-४-६)—कर्म करनेके निमित्त जीव उस लोकसे (परलोकसे) फिर इस पृथ्वी पर आते हैं ।’

ये सभी बातें ‘उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् ।’ (२-३-१६) वेदान्तसूत्रमें बतायी गयी हैं । इस सूत्रके भाष्यके आरम्भमें श्रीपाद शंकराचार्यने कहा है :—इदानीन्तु किमपरिमाणो जीव इति चिन्तयते । किमणुपरिमाण उत मध्यमपरिमाण अहोस्विन्महत्परिमाण इति ।—जीवात्माका परिमाण क्या अणु है ? अथवा मध्यम है ? या महत्—विभु है ? इसका विचार किया जाता है ।” इसके उपरान्त उन्होंने कहा है—“उत्क्रान्तिगत्यागति-श्रवणानि जीवस्य परिच्छेदं प्रापयन्ति ।—जीवके उत्क्रमण, गमन एवं आगमन की बात सुनी जाती है, इससे जीव विभु नहीं हो सकता, परिच्छिन्न ही है ।” श्रीपाद बलदेवविद्याभूषणने भी अपने गोविन्दभाष्यमें उपर्युक्त सिद्धान्त का ही निरूपण किया है अर्थात् जीवात्मा विभु नहीं है और श्रुति-वेदान्तसे भी जाना गया है कि जीवात्मा अपरिच्छिन्न नहीं, परिच्छिन्न ही है ।

जो परिच्छिन्न है, वह मध्यम-आकार भी हो सकता है, अणु परिमाण भी हो सकता है, तो क्या जीव मध्यम आकार है ? मध्यम आकार कहनेसे,

देह का जो आकार होगा, जीवात्माका भी वही आकार समझना होगा। जैन मतके अनुसार जीवात्मा मध्यम-आकार है। वेदान्तके “एवं च आत्मा अकात्स्न्यम् । (२-२-३४)”—इस सूत्रमें उक्त जैन-मतका खण्डन किया गया है। इस सूत्रका मर्म श्रीपाद शंकरके भाष्यानुसार इस प्रकार है—एक ही जीवात्मा कर्मफलके अनुसार कभी मनुष्य-देह, कभी कीट-देह कभी हस्ति-देह का आश्रय करता है। जो जीव कीट के क्षुद्र देहमें व्याप्त होकर रहता है, वह हाथी के बड़े भारी शरीरमें किस प्रकार व्याप्त होकर रह सकता है? भिन्न देहकी बात छोड़ दी जाय, एक ही देहमें भी विभिन्न परिमाण दीखते हैं। शैशव, कौमार, कैशोर, यौवन, वार्द्धक्य—जीवनकी इन विभिन्न अवस्थाओं में देहका प्रमाण भी विभिन्न होता रहता है। जोवात्मा यदि मध्यम-आकार या देहपरिमित आकारविशिष्ट ही हो, तो एक ही जीवात्माका परिमाण विभिन्न वयसमें विभिन्न किस प्रकारसे हो सकता है? यदि यह कहा जाय कि देहके परिमाणकी ह्रास-वृद्धिके साथ-साथ जीवात्मा के परिमाणमें भी ह्रास-वृद्धि होती रहती है, तो इसका भी उत्तर वेदान्तके—‘न च पर्यायाद् अपि अविरोधः विकारादिभ्यः । (२-२-३५) सूत्रमें मिलता है। इस सूत्र का तात्पर्य यह है—“यदि कहा जाय कि जीवात्मा पर्याय-क्रमसे क्षुद्र और बृहत् है तो पूर्वोक्त शंका निवारण नहीं होती। क्योंकि ऐसा होनेपर यह स्वीकार करना होगा कि जीवात्मा विकारी है, अतः अनित्य है। इस लिये देह के साथ जीवात्मा की ह्रास-वृद्धि होती है, यह मत माननीय नहीं है। एक और युक्ति ‘अन्त्यावस्थितेः च उभयनित्यत्वात् अविशेषः (२-२-३६)’ इस वेदान्तसूत्रमें दी गई है। ‘उभयनित्यत्वात्’, अर्थात् आत्मा एवं उसका परिमाण दोनों ही नित्य होनेके कारण ‘अन्त्यावस्थितेः’—अर्थात् मोक्ष अवस्थामें अवस्थित जीवात्माका अविशेषः—विशेषत्व, (परिमाण-विषयमें विशेषत्व) कुछ भी नहीं है। आत्मा जिस प्रकार नित्य है, उसका परिमाण भी नित्य है—सभी समयमें एक ही आकार-विशिष्ट रहता है अर्थात् कभी बड़ा और कभी छोटा नहीं होता। मोक्ष-प्राप्तिके पश्चात् जो आकार रहता है, मोक्षप्राप्तिके पूर्व, देहमें अवस्थान करनेके समय भी वही परिमाण रहता है। अतएव जीवात्मा मध्यमाकार नहीं हो सकता।

इससे यह जाना गया कि जीव विभु भी नहीं है और मध्यम-आकार भी नहीं; तो फिर क्या जीव अणुपरिमाण है ?

श्रीमन्महाप्रभुने बताया है:—(श्री चै० चरितामृत २-७-१११)—

ईश्वरेर तत्व-जेन ज्वलित ज्वलन । जीवेर स्वरूप जैछे स्फुलिगेर करण ॥

अर्थात् ईश्वर बहुत विस्तीर्ण ज्वलन्त अग्नि-राशिके समान है और जीव एक क्षुद्र स्फुलिंग की तरह क्षुद्र है ।

श्रीमद्भागवतमें (११-१६-११) में भी श्रीकृष्णने कहा है—
सूक्ष्माणामप्यहं जीवः ।—सूक्ष्म वस्तुओंमें मैं जीव हूँ ।” जीवात्मा इतना क्षुद्र है, इतना सूक्ष्म है कि उसकी अपेक्षा और अधिक सूक्ष्म वस्तुकी कल्पना भी नहीं की जा सकती । जैसे कि श्रीपाद जीवगोस्वामीजी ने कहा है—
सूक्ष्मतापराकाष्ठाप्राप्तो जीवः । परमात्मसन्दर्भ ॥ ३ ॥

श्रुति भी कहती है कि जीवात्मा अणुपरिमित है—‘एषः अणु आत्मा’ (मुण्डकोपनिषद् ३।१।८) कठोपनिषद् यही बताता है—आत्मा ‘अणुप्रमाणात् (१।२।८)—जीवात्मा अणुप्रमाण है ।’ श्वेताश्वतर-उपनिषद् कहता है—
‘वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवः स विज्ञेयः (३।६) केशके अग्रभागके यदि सौ हिस्से किये जायँ और सौवें हिस्सेके फिर सौ हिस्से किये जाँयँ, तो उसके समान जीव होगा, अर्थात् जीव केशके अग्रभाग के दस हजारवें भागके एक भागके समान सूक्ष्म है ।’

व्यासदेवका वेदान्तसूत्र भी जीवात्माके अणुत्वकी बात ही बताता है क्रमानुसार उसकी व्याख्या इस प्रकार है—

‘उत्क्रान्तिगत्यगतीनाम् (२।३।१६)’—इस सूत्रमें कहा गया है कि जीवकी उत्क्रान्ति और गतागति है, इसलिये जीव विभु नहीं हो सकता । जीवका मध्यम अकार भी नहीं हो सकता—(यह आलोचना पहले की जा चुकी है ।) इसलिये जीवका परिमाण अणु ही है ।

‘स्वात्मना च उत्तरयोः (२।३।२०)’ सूत्रमें बताया गया है कि पूर्व सूत्रके ‘गति और अगति’—इन अन्तिम दो शब्दोंका (उत्तरयोः) गौण अर्थ लेनेपर कोई सार्थकता नहीं रहती । ‘स्वात्मना’—जीवात्मा सत्य-सत्य ही स्वयं गमनागमन करता है,—‘ये वै के च अस्मात् लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसम् एव ते सर्वे गच्छन्ति । (कौषीतकी १।२)’ ‘तस्मात् लोकात् पुनः ऐति अस्मै लोकाय कर्मणे (वृ० आ० ४।४।६)’ इत्यादि श्रुतिवाक्यों का भी यही तात्पर्य है । अतः ‘गति और अगति’—दोनों शब्दोंकी सार्थकता इसी में है कि जीवात्मा गतागति करता है, और वह मध्यम-आकार नहीं है, एकमात्र वह अणु है ।

इसके उपरान्त सूत्रकारने स्वयं ही एक पूर्वपक्ष उठाकर खण्डन

किया है। पूर्वपक्ष यह है कि यह आत्मा अणु नहीं है, बृहत् है, क्योंकि आत्मा बृहत्—विभु है, इस प्रकारका श्रुतिवाक्य मिलता है। इस पूर्वपक्षका खण्डन करनेके लिए व्यासदेवने निम्नलिखित सूत्रका निर्माण किया—

‘न अणुः अतच्छ्रुतेः इति चेत् न इतराधिकारात् (२-३-२१)।’—न अणुः (आत्मा अणु-परिमाण नहीं हो सकता; क्योंकि) अतत्-श्रुतेः (अनणुत्व-श्रुतेः—आत्मा अनणु, बृहत्, विभु है—इस प्रकारका श्रुतिवाक्य मिलता है), इति चेत् (इस प्रकार यदि कोई कहे। यही पूर्वपक्षकी उक्ति है, इस उक्तिके उत्तरमें सूत्रकारने कहा है—) न (नहीं,—आत्मा विभु नहीं है; क्योंकि) इतराधिकारात् (श्रुतिमें जिस आत्माको बृहत् या विभु कहा गया है, वह आत्मा जीवात्मा नहीं है; वह परमात्मा या ब्रह्म)। इस सूत्रार्थसे जाना गया कि ब्रह्म विभु है, किन्तु जीवात्मा अणु है।

‘स्वशब्दोन्मानाभ्यां च (२।३।२२)’—इस सूत्रमें कहा गया है कि जीव अणु है—यह ‘स्वशब्द’ एवं ‘उन्मान’ द्वारा समझा जाता है। ‘स्व-शब्द’ का अर्थ है—श्रुतिकी उक्ति। श्रुति कहती है—जीवात्मा अणु है—‘एषः अणुः आत्मा’ (मुण्डक ३।१।६)। ‘उन्मान’ का अर्थ है—वेदोक्त परिमाण। ‘बालाग्रेसतभागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवः स विज्ञेयः । (श्वेताश्वतर ५।६)’—इस श्रुतिवाक्यमें जीवात्माका परिमाण दिया गया है, इससे भी यह जाना जाता है कि जीवात्मा अति सूक्ष्म—अणु है।

इसके बाद सूत्रकारने एक और भी पूर्वपक्ष उठाकर उसका खण्डन नीचेके सूत्रमें किया है—

‘अविरोधः चन्दनवत् । (२।३।२३)’—इस सूत्रमें कहा गया है—यदि कोई पूर्वपक्ष आपत्ति उठाये कि जीवात्मा यदि अणुकी तरह अति सूक्ष्म है तो समस्त देहमें सर्दी-गर्मी आदिकी यन्त्रणाका अनुभव कैसे होता है? इसके उत्तरमें कहा है—‘अविरोधः—इसमें कोई विरोध नहीं है।’ आत्माके अणु-परिमाण होनेपर भी समस्त देहमें सुख-दुखकी अनुभूति हो सकती है। किस प्रकार? ‘चन्दनवत्’—एक बिन्दु चन्दन देहके एक स्थानमें लगनेपर समस्त देहमें जिस प्रकार तृप्तिका अनुभव होता है, उसी प्रकार आत्मा के अणु-परिमित होनेपर भी समग्र देहमें सुख-दुःखकी अनुभूति संचारित हो सकती है।

इस उक्तिके बाद पूर्वपक्षकी ओर से एक और आपत्ति की जा सकती है, श्री व्यासदेवने उसका भी परवर्ती सूत्रमें खण्डन किया है:—

‘अवस्थितिवैशेष्यात् इति चेत् न अभ्युपगमात् हृदि हि (२।३।२४)।’—यदि कोई आपत्ति करे कि ‘अवस्थितिवैशेष्यात्—चन्दनबिन्दु देहके एक स्थानमें लगे रहनेसे उसकी स्निग्धता-जनित तृप्तिका अनुभव सम्पूर्ण

देहमें व्याप्त हो सकता है, किन्तु आत्मा तो उस प्रकारसे देहके एक स्थानमें रहता नहीं; 'इति चेत्'—इस प्रकार कहनेपर उत्तरमें कहा गया है 'न'—नहीं, इस प्रकारकी आपत्तिके लिये कोई अवकाश नहीं है। क्यों? 'अभ्युपगमात् हृदि हि'—आत्मा भी (देहके एक स्थान) हृदयमें वास करता है, यह श्रुतियों द्वारा स्वीकृत है, यथा—'हृदि हि एव आत्मा' (प्रश्नोपनिषद् ३) 'स वा एष आत्मा हृदि । (छान्दोग्य ८।३।३) ।'

पुनः आपत्ति हो सकती है कि चन्दनका सूक्ष्म अंश समस्त देहमें व्याप्त होकर तृप्ति उत्पन्न कर सकता है, किन्तु आत्माका तो कोई सूक्ष्म अंश नहीं है जो समस्त देहमें व्याप्त होकर अनुभूतिका विस्तार करे। अतएव आत्मा सूक्ष्म होकर समस्त देहमें किस प्रकार अनुभूति उत्पन्न कर सकता है? इसके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं :—

'गुणात् आलोकवत् (२।३।२५)' आत्मा का गुण चैतन्य या चेतनता समस्त देहमें व्याप्त होकर सुख-दुःख की अनुभूति उत्पन्न करती है। कैसे?—'आलोकवत्'—आलोककी तरह, प्रदीप एक स्थानमें रहकर भी जिस प्रकार आलोक अर्थात् प्रकाशका विस्तार करके सम्पूर्ण घरको आलोकित करता है।

इस उत्तरपर भी पूर्वपक्ष आपत्ति कर सकता है कि गुणीका आश्रय किये बिना गुण नहीं रह सकता। दुग्धका गुण श्वेतवर्ण दुग्धका आश्रय करके ही रहता है। जहाँ दुग्ध नहीं वहाँ श्वेतवर्ण भी देखनेमें नहीं आता, आत्माका गुण चैतन्य है। जहाँ आत्मा है, वहीं चैतन्य रह सकता है; जहाँ आत्मा नहीं है, वहाँ चैतन्य नहीं रह सकता। अतः आत्मा यदि सम्पूर्ण देहमें व्याप्त नहीं है, या आत्मा यदि अणु-परिमित है, तो सम्पूर्ण देहमें सुख दुःखकी अनुभूति किस प्रकार उत्पन्न हो सकती है? इस आपत्तिका उत्तर सूत्रकार देते हैं :—

'व्यतिरेको गन्धवत् (२।३।२६)' 'व्यतिरेकः'—व्यतिक्रम भी होता है; जहाँ गुणी न हो, वहाँ भी, स्थलविशेषमें गुण रह सकता है। 'गन्धवत्'—जैसे गन्ध; जहाँ फूल न हो, वहाँ भी फूलकी गन्धका अनुभव होता है। अतएव देहके जिस स्थानमें आत्मा न हो, वहाँ भी आत्माका गुण चैतन्य रह सकता है।

एक और सूत्रमें भी श्री व्यासदेवने उपर्युक्त उक्तिका समर्थन किया है:—'तथा च दर्शयति (२।३।२७)' अणु-परिमित आत्मा, हृदयमें अवस्थान

करनेपर भी, समस्त देहमें चेतना विस्तार कर सकता है—यह श्रुतिमें प्रदर्शित हुआ है। छान्दोग्य श्रुति कहती है—‘आलोमस्य आनखाग्नेभ्यः (८।८।१)—लोम तथा नखाग्र पर्यन्त, (चेतनता संचार करता है)।

फिर प्रश्न हो सकता है कि आत्मा एवं उसका गुण चैतन्य या ज्ञान यदि पृथक् हो तो आत्मा एक स्थानमें रहनेपर भी उसका गुण—ज्ञान समग्र देहमें व्याप्त हो सकता है। ज्ञान और आत्मा अलग-अलग हैं, इसका भी कोई प्रमाण है या नहीं ? इसके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं :—

पृथक् उपदेशात् (२।३।२८)—हाँ, आत्मा और ज्ञान पृथक् हैं—श्रुतिमें इसका उल्लेख है।” कौषीतकी श्रुतिका कहना है—‘**प्रजयाशरीरं समारूह्य (३।६)**—जीवात्मा। प्रज्ञा या ज्ञानद्वारा शरीरमें सम्यक् रूपसे आरोहण करता है। यहाँपर आत्मा है आरोहणकर्ता एवं ज्ञान है कारण। अतः दोनों पृथक् वस्तुएं हैं।

श्रीपाद शंकराचार्यके भाष्यके अनुसार ही उल्लिखित वेदान्त-सूत्रोंका तात्पर्य प्रकाश किया गया है। जीवात्मा विभु है, या मध्यम-आकार अथवा अणुपरिमित है ? इसके पूर्व वेदान्तसूत्रोंके प्रमाणोंके उल्लेख द्वारा दिखाया गया है—आत्मा मध्यम-आकार नहीं हो सकता। ‘**उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् (२-३-१६)**’ इत्यादि वेदान्त-सूत्रोंके उल्लेखद्वारा यही दिखाया गया है कि श्रुतिमें जीवात्माके उत्क्रमण और यातायातकी बात देखी जाती है, इसलिये आत्मा विभु या सर्वव्यापक नहीं हो सकता, यही प्रमाणित होता है। इसीसे सूत्रकारने सिद्धान्त-स्थापन किया है कि आत्मा जब विभु नहीं है, मध्यम-आकार भी नहीं है, तब निश्चय ही अणु-परिमित है। इसके उपरान्त, आत्माकी अणु-परिमितताके विपक्षमें जितनी आपत्तियां हो सकती हैं, २।३।२० से लेकर २।३।२८ तक के सूत्रोंमें सूत्रकारने स्वयं ही उन सबका खण्डन किया है। इन सूत्रोंमें जितनी आपत्तियां उठायी गयी हैं; उनमेंसे प्रत्येक जीवात्माके विभुत्वके अनुकूल है। सूत्रकार श्रीव्यासदेवने एक-एक कर समस्त आपत्तियोंका खण्डन कर जीवात्माका अणुत्व ही प्रतिष्ठित किया है।

शंकर-मतपर विचार और खण्डन—

श्रीपाद शङ्कराचार्यने उल्लिखित सूत्रोंके भाष्यमें जीवात्माके विभुत्वके खण्डनद्वारा अणुत्वको प्रतिष्ठित किया है। किन्तु आश्चर्य है कि

अव्यवहित परवर्ती सूत्रके भाष्यमें शंकराचार्यने अन्य प्रकारका मत प्रकाशित किया है। वह सूत्र ये हैं:—

‘तद्गुणसारत्वात् तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् (२-३-२८) ।’ श्रीपाद रामानुजके मतसे यह सूत्र जीवात्माके परिमाण-विषयमें नहीं है। श्रीपाद बलदेवविद्याभूषणके गोविन्दभाष्यमें भी इस सूत्रको जीव-परिमाण-विषयक बताकर उल्लेख नहीं किया है।

रामानुज-भाष्य देखनेसे पता लगता है कि पूर्व सूत्रके साथ इस सूत्रका सम्बन्ध इस भावका है—पूर्व सूत्रोंमें बताया गया है कि जीवात्मा और उसका गुण ज्ञान दोनों पृथक् वस्तुएं हैं। इस सूत्रमें कहा गया कि, उनके पृथक् होनेपर भी स्थलविशेषमें, ज्ञान जीवका श्रेष्ठ गुण होनेके कारण गुणी और गुणका अभेद मानकर, जीवको ही ‘ज्ञान’या‘विज्ञान’ शब्दसे अभिहित किया गया है। ‘तद्गुणसारत्वात्’ यहाँपर ‘तत्’ शब्दका अर्थ है जीव, उसके गुणका सार है ज्ञान; यही ज्ञान जीवका गुणसार या श्रेष्ठगुण होनेके कारण (जीव और उसके गुण का पृथक् रूपसे श्रुतिमें उल्लेख होनेपर भी) ‘तु’ किन्तु ‘तद्व्यपदेश’—जीवको ज्ञान या विज्ञानरूपसे भी अभिहित किया है; जैसे ‘विज्ञानं यज्ञं तनुते—जीव यज्ञ करे’—जीव और उसके विज्ञानकी पृथकता का यह अनुकूल उदाहरण भी है। ‘प्राज्ञवत्’—प्राज्ञ या परमात्मा की तरह। परमात्माका श्रेष्ठ गुण है आनन्द; इसीसे जिस प्रकार परमात्मा को समय-समयपर आनन्द कहा जाता है (आनन्दो ब्रह्म इति व्याजानात् । तेत्तीरीय । ३।६ ॥) उसी प्रकार जीवात्माका श्रेष्ठ गुण ज्ञान होनेसे जीव-आत्माको भी स्थलविषयमें ज्ञान या विज्ञान कहा जाता है। उक्त सूत्रका रामानुज-भाष्य अनुसार यही तात्पर्य है।

किन्तु इसी सूत्रके भाष्यमें श्रीपाद शंकराचार्य कहते हैं कि पूर्व-उल्लिखित सूत्रोंमें जीवात्माके अणुत्व स्थापनके लिये जो कहा गया है, वह सब पूर्वपक्षकी उक्ति है। वस्तुतः जीव-आत्मा अणु नहीं है, विभु है। ‘तु’—शब्दः पक्षं व्यवर्तयति । नेतदस्त्यणुरात्मेति, उत्पत्त्यश्रवणात् ।’

अब श्रीपाद शंकरकी युक्तियों का उल्लेख करते हुए हम तत् सम्बन्धी मन्तव्य व्यक्त करते हैं। उनकी युक्तियाँ ये हैं:—

(१) नेतदस्ताणुरात्मेति, उत्पत्त्यश्रवणात्—उत्पत्तिकी बात सुननेमें नहीं आती, इसलिये आत्मा अर्थात् जीवात्मा अणु नहीं हो सकता।

मन्तव्य—जीवात्मा अनादि, नित्य है; अतः उसकी उत्पत्ति या जन्म नहीं हो सकता। प्रतीत होता है कि श्रीपाद शङ्कर मानते हैं कि उत्पत्ति ही अणुत्वका एक विशेष प्रमाण है। किन्तु यह सम्भव नहीं। अनन्त कोटि विश्व-ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति है, मायावद्ध जीव-देहकी उत्पत्ति है; किन्तु वे अणु परिमित नहीं हैं। और उत्पत्ति न होना ही, अर्थात् नित्यत्व ही, यदि अणुत्व-विरोधी हो एवं विभुत्व-प्रतिपादक हो तो माया भी विभु होगी, क्योंकि बहिरंगा माया नित्यवस्तु है? किन्तु प्राकृत ब्रह्माण्डके बाहर मायाका अवस्थान न होनेके कारण मायाको ब्रह्मकी तरह विभु नहीं कहा जाता। अतएव श्रीपाद शंकरकी यह युक्ति विचार-संगत नहीं लगती।

(२) परस्यैव तु ब्रह्मणः प्रवेशश्रवणात् तादात्म्योपदेशाच्च परमेव ब्रह्म जीव इत्युक्तम्। परमेव चेद्ब्रह्म जीवस्तर्हि यावत् परं ब्रह्म तावानेव जीवो भवितुमर्हति। परस्य च ब्रह्मणो विभुत्वम् आयातं तस्माद् विभुर्जीवः।
-परब्रह्मके ही प्रवेश और तादात्म्यकी बात शास्त्रोंमें देखी जाती है, इसलिये परब्रह्म ही जीव है। अतएव ब्रह्मका जो आकार है, जीवात्माका भी वही आकार होगा। श्रुति कहती है कि ब्रह्म विभु है, अतएव जीव भी विभु है।

मन्तव्य—केवल परब्रह्मके ही प्रवेश और तादात्म्यकी बात सुननेमें आती हो, ऐसा नहीं है। जीवके भी प्रवेश और तादात्म्यकी बात सुननेमें आती है। प्राकृत देहमें प्रवेश एवं मृत्युकालमें उस देहमेंसे जीवका बाहर निकलकर जाना प्रसिद्ध है। प्राकृत स्थूल शरीरके साथ जीवके तादात्म्यकी बात भी श्रुतिमें मिलती है। “स वायं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसम्पद्यमान पाप्माभिः संसृज्यते स उत्क्रामन् स्रियमाणः पाप्मानो विजहाति (बृहदारण्यक ४-३-८)” अतएव शंकराचार्यकी यह युक्ति भी विचारसंगत नहीं है।

(३) जीवात्मा विभु है, इसको प्रमाणित करनेके लिए श्रीपाद शंकराचार्यने एक श्रुतिवाक्यका उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है:—
“स वा एष महानज आत्मा योज्यं विज्ञानमयः प्राणेषु—इत्येवंजातीयका जीवविषयका विभुत्ववादाः श्रोताः स्मार्ताश्च समर्थिता भवन्ति।”—
यह वही महान् अज आत्मा है, जो विज्ञानमय एवं प्राणोंमें अवस्थित है—इत्यादि।—इस प्रकारके जीवविषयक विभुत्व प्रतिपादक वाक्य, श्रुति और स्मृति द्वारा समर्थित हैं।

मन्तव्य—श्रीपादशंकराचार्यने इन श्रुतिवाक्योंको जीवविषयक माना है। किन्तु ये जीव विषयक नहीं है, ब्रह्म-विषयक है, यह बात समग्र श्रुति देखने से समझमें आ जाती है। समग्र श्रुति इस प्रकार है:—
 “स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन् शेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वाधिपतिः । स न साधुना कर्मणा भूयानो एवासाधुना कर्णीयानेष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुविधरण एषां लोकानामसम्मेदाय तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विधिदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा नाशकेनैतमेव विदित्वा मुनि-
 भवति एतमेव प्रवाजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति एतद्ध स्म वे तत् पूर्वं विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोक इति ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणामाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे एव भवतः स एष नेति नेत्यात्मागृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसंगो न हि सज्यतेऽसितो न हि व्यथते न रिष्यत्येतम् है वैते न तरत इत्यतः पापम-
 करवमित्यतः कल्याणमकरवमित्युभे उ हैवैद्य एते तरति नैनं कृताकृते तपतः । (बृहदारण्यक आ० ४-४-२२)—यह महान् अज विज्ञानमय आत्मा, जो प्राणोंमें (इन्द्रियोंके बीच इन्द्रियके अधिष्ठाता रूपसे) अवस्थान करता है, एवं जो (परमात्मारूपसे भूतगणके) हृदयाकाशमें अवस्थान करता है, वह सबको वशीकारक, सबका नियन्ता और सबका अधिपति है। वह (शास्त्र-विहित) साधु कर्म द्वारा महत्ताको प्राप्त नहीं होता, (शास्त्र-निषिद्ध) असाधु कर्म द्वारा लघुताको भी प्राप्त नहीं होता। वह सर्वेश्वर, भूतोंका अधिपति, भूतोंका पालनकर्ता है। इन समस्त लोकोंके असम्बेदके (शांकर्य निवारण-पूर्वक मर्यादा रक्षणके) लिये जगत्के धारण करने वाले सेतु स्वरूप ब्राह्मणवर्ग, वेदके अध्ययन यज्ञ, तपस्या और कामोपभोगवर्जन द्वारा उसको जाननेकी इच्छा करते हैं। उसको जानकर ही लोग मुनि बनते हैं। उस आत्मलोककी प्राप्तिके लिए लोग संन्यास ग्रहण किया करते हैं। पहिले ज्ञानी लोग, प्रजा द्वारा हमको क्या लाभ होगा?—यह विचारकर प्रजाकी कामना नहीं किया करते। आत्म-लोककी प्राप्तिकी आशासे वे लोग पुत्र-वित्त-स्वर्गादिलोकोंकी कामना परित्याग कर भिक्षावृत्तिकी अवलम्बन किया करते हैं। यह नहीं, यह नहीं,—इस प्रकारके निषेध वाक्योंसे आत्माको जानना होता है। आत्मा,

इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य होनेके कारण इन्द्रियाँ इसको ग्रहण नहीं कर सकती । आत्मा, अशीर्य होनेके कारण शीर्य नहीं होता । आत्मा, आसक्ति-हीन होनेके कारण कहीं भी आसक्त नहीं होता । आत्मा बद्ध नहीं होता, व्यथित नहीं होता; विनष्ट नहीं होता । मैंने पाप किया है या पुण्य किया है—इस प्रकारका अभिमान आत्मज्ञ व्यक्तिको आश्रय नहीं करता । आत्मज्ञ इन दोनोंसे अतीत होता है । कृत या अकृत—कुछ भी आत्मज्ञको अनुत्तम नहीं करता ।

अब स्पष्ट ही समझमें आता है कि उक्त श्रुति जीव विषयक नहीं है । श्रुतिवाक्योंमें 'प्राणेषु' शब्द होनेसे श्रुति जीव विषयक—सी लगती अवश्य है, किन्तु परवर्ती अंशमें 'सर्वस्य वशी, सर्वे स्येशानः, सर्वस्याधिपतिः, सर्वेश्वरः, इत्यादि शब्द एवं उपासनाकी बात रहनेसे स्पष्ट ही समझमें आता है कि सबके वशीकारक, सबके नियन्ता और अधिपति, ब्राह्मणवर्गके एवं ब्रह्मलोकेच्छु जनोके उपास्य परब्रह्म ही इस श्रुतिके विषय हैं । 'नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नैतराधिकारात् (२-३-२१)'—वेदान्त सूत्रका गोविन्द भाष्य भी बतलाता है:—“स वा एष महानज आत्मेति—यद्यपि योऽयं विज्ञानमयः प्राणष्विति जीवस्योप-क्रमस्तथापि यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्मेतिमध्ये जीवतरं परेशमधिकृत्य महत्त्वप्रतिपादनात् तस्यैव तत्त्वं न जीवस्येति ।” प्राणका अधिष्ठात्री देवता भी स्वरूपतः परब्रह्म ही है, यही 'प्राणेषु' शब्दसे सूचित होता है । अतएव यह श्रुति परब्रह्म विषयक ही है, जीव विषयक नहीं ।

नाणुरतच्छ्रुते:—इत्यादि २-३-२१ सूत्रके भाष्यमें श्रीपाद रामानुजने भी उल्लिखित वृहदारण्यकके 'स वा एषः महान् अजः'—इत्यादि श्रुतिवाक्य को परब्रह्म विषयक बताकर ही उल्लेख किया है ।

यहाँ तक कि श्रीपाद शंकराचार्यने भी 'नाणुरतच्छ्रुते:'—इत्यादि सूत्रके भाष्यमें वृहदारण्यकके उल्लिखित वाक्यको ब्रह्म विषयक ही बताया है । उन्होंने भाष्य में लिखा है—“स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु”, 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः,' 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म इत्येवजातीयका हि श्रुतिरात्मनोऽणुत्वं विप्रतिषिध्यतेति चेत् । नेष दोषः । कस्मात् । इतराधिकारात् । परस्य हि आत्मनः प्रक्रियायाम् एषा परिमाणान्तरश्रुतिः ।' इसका मर्म इस प्रकार है । यदि कहा जाय कि 'स वा एष महानज' इत्यादि श्रुतिवाक्य आत्माके अणुत्व विरोधी हैं

एवं आत्माके विभुत्वके प्रतिपादक हैं; तो इसके उत्तरमें कहा जायगा कि ये सभी श्रुतिवाक्य आत्माके विभुत्वके प्रतिपादक ही हैं; किन्तु इसमें कोई दोष नहीं है, क्योंकि, 'इतराधिकारात् ।' ये सब श्रुतिवाक्य ब्रह्म प्रकरणके हैं, जीवप्रकरणके नहीं । भाष्यके उपसंहारमें उन्होंने लिखा है—'तस्मात् प्राज्ञविषयत्वात् परिमाणान्तरश्रवणस्य न जीवस्यागुत्वं विरुध्यते' 'स वा महानज' इत्यादि श्रुतिवाक्य ब्रह्म विषयक होनेके कारण (जीवविषयक नहीं होनेके कारण) जीवके अणुत्वके विरोधी नहीं । यहाँपर श्रीपाद शंकरने स्पष्ट रूपसे ही उल्लिखित वृहदारण्यकके वाक्यको ब्रह्म विषयक बताया है । इसपर भी 'तद्गुणसारस्त्वान्तु तद्व्यपदेशः' इत्यादि २-३-३६ सूत्रके भाष्यमें अपने निजके प्रयोजनकी सिद्धिके लिए उसी श्रुतिवाक्यको वे जीव विषयक कहकर प्रकाश करते हैं । उनके सम्पूर्ण भाष्यका यदि कोई निरपेक्ष भावसे विचार करे, तो यह स्पष्ट होजाता है कि श्रीपाद शंकरका एक मात्र लक्ष्य—जीव-ब्रह्मकी एकता स्थापन करना था और उसी उद्देश्यसे जीवके विभुत्वका उन्होंने प्रतिपादन किया है । इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिए अत्यधिक आग्रहवश अनेक स्थलोंपर मुख्यावृत्तिके अर्थकी संगति रहनेपर भी, उनको श्रुतिका अर्थ करते समय लक्षणावृत्तिका आश्रय ग्रहण करना पड़ा है एवं स्थलविशेषपर एक ही श्रुतिका एक जगह एक प्रकारका अर्थ एवं दूसरी जगह ठीक विपरीत अर्थ ग्रहण करना पड़ा है । अतः आलोच्य-सूत्रके भाष्यमें जीवके विभुत्व प्रतिपादनकी उनकी चेष्टा सम्पूर्ण रूपसे व्यर्थ है, यह पूर्ववर्ती एवं परवर्ती आलोचनासे समझमें आता है ।

इसके बाद श्रीपाद शंकरने जीवके अणुत्व प्रतिपादक कई एक वेदान्त सूत्रोंकी आलोचना करके प्रकारान्तरसे श्रीव्यासदेवकी त्रुटि ही दिखानेकी चेष्टा की है । इस सम्बन्धमें भी उनकी युक्तियोंका यहाँ मन्तव्य सहित प्रकाश करते हैं । उनकी युक्तियां ये हैं :—

(१) 'न च अणोर्जीवस्य सकलशरीरगता वेदना उपपद्यते ।— यदि जीव अणु हो, तो समस्त शरीरमें वेदनाकी उपलब्धि संगत नहीं होती । उस विषयमें उनकी युक्ति यह है कि यदि कहा जाय कि त्वक् समस्त देहमें व्यापक है, त्वक्के साथ सम्बन्ध होनेके कारण समस्त शरीरमें वेदनाका विस्तार हो सकता है । वे कहते हैं—किन्तु, ऐसा होता नहीं है, पैरमें जब कांटा चुभता है, तब केवल पैरमें वेदनाका अनुभव होता है, सब

शरीरमें नहीं । श्रीपाद शंकरकी यह युक्ति, सूत्रकार श्रीव्यासदेवके 'अवस्थितिवैशेष्यात् इति चैन्न अभ्युपगमात् हृदि हि (२-३-२४)' सूत्रका ही प्रतिवाद है ।

मन्तव्य—त्वक्के बीच जो शिरा, उपशिरा, धमनी आदि हैं, वे ही वेदनाकी अनुभूतिको वहन करके शरीरमें विस्तारित करती हैं । जहाँ-जहाँ और जितनी दूर पर्यन्त शिरा आदि वेदनाकी अनुभूतिको वहन करके ले जानेमें समर्थ हैं, वहाँ-वहाँ ही और उतनी दूर तक ही वेदनाका अनुभव हो सकता है, सभी वेदना सम्पूर्ण शरीरमें एक ही साथ विस्तृत होगी, ऐसी बात नहीं है । यह प्रतिपाद्य विषय भी नहीं है । प्रतिपाद्य विषय यह है कि (जीव-) आत्मा जब अणुरूपसे केवल हृदयमें ही अवस्थित है, हृदयके अणु परिमाण स्थानके बाहर जब उसकी व्याप्ति नहीं है, और सम्पूर्ण देह जब जड़ है, तब शरीरके सभी स्थानोंमें हृदयस्थित आत्माकी चेतनता व्याप्त हो सकती है या नहीं ? सूत्रकार कहते हैं—हो सकती है । सम्पूर्ण देहमें ही चेतना व्याप्त है—इसका प्रमाण क्या है? कांटा चुभाकर देखो, प्रमाण मिल जायगा । शरीरके किसी भी स्थानमें कांटा चुभानेसे वेदनाका अनुभव होगा । इसीसे समझा जाता है कि शरीरमें सर्वत्र ही चेतना व्याप्त है । यह चेतना आत्मासे ही आती है । एक जगह कांटा चुभनेपर, एक ही समय, एक ही साथ समस्त शरीरमें वेदनाका संचार न होनेपर भी, इसके द्वारा समस्त शरीरमें चेतनाके अस्तित्वका अभाव प्रमाणित नहीं होता । अतएव 'जीव अणु होनेपर समस्त देहमें वेदनाकी विस्तृति उत्पन्न नहीं होती'—इसको प्रमाणित करनेके लिए श्रीपाद शंकरने पैरमें कांटा चुभनेका जो दृष्टान्त दिया, उसकी उपयोगिता नहीं है ।

(२) श्रीव्यासदेवने 'गुणात् वालोकवत् (२।३।२५)' सूत्रमें कहा है कि प्रदीप एक स्थानमें रहकर भी जिस प्रकार सम्पूर्ण घरमें प्रकाशका विस्तार करता है, उसी प्रकार जीवात्मा हृदयमें रहकर भी सम्पूर्ण देहमें अपने गुणाका—चेतना और ज्ञानका—विस्तार करता है । यदि इसमें कोई आपत्ति करे कि गुण तो गुणीमें रहता है, गुणीके बाहर उसका अस्तित्व नहीं; आत्माका गुण आत्माके बाहर—शरीरमें किस प्रकारसे व्याप्त होगा? इसके उत्तरमें श्रीव्यासदेव 'व्यतिरेको गन्धवत् (२।३।२६)' सूत्रमें बताते हैं—“व्यतिरेक है; जिस स्थानमें गुणी न रहे, उस स्थानमें भी गुणीका गुण रह सकता है; जैसे गन्ध ।”

उक्त दोनों सूत्रोंमें श्रीव्यासदेवकी उक्तिके सम्बन्धमें श्रीपाद शंकर कहते हैं—“न च अणोर्गुणव्याप्तिरूपपद्यते गुणस्य गुणदेशत्वात् । गुणत्वमेव हि गुणिनमाश्रित्य गुणस्य हीयेत ।—आत्मा यदि अणु हो तो समस्त देहमें उसका गुण व्याप्त नहीं हो सकता, क्योंकि गुण गुणीमें ही रहता है । गुणीके आश्रयमें गुणके न रहनेपर उसका गुणत्व ही नहीं रहता है ।” इसके बाद वे कहते हैं—प्रदीपप्रभायाश्च द्रव्यान्तरत्वं व्याख्यातम् ।—प्रदीप और प्रभाकी द्रव्यान्तरता की व्याख्या पहले ही हो चुकी है । पूर्वमें गुणाद्वालोकवत् (२।३।२५), सूत्रके भाष्यमें उन्होंने बतलाया है कि प्रदीप और उसकी प्रभा भिन्न द्रव्य नहीं हैं, वे दोनों एक ही तेजोद्रव्य हैं । प्रदीप हुआ घनत्व प्राप्त तेज और प्रभा हुई तरल तेज । ‘प्रदीपप्रभावद्भवेदिति चेत्, न तस्या अपि द्रव्यत्वाभ्युपगमात् । निविडावयवं हि तेजोद्रव्यं प्रदीपः प्रविर-णावयवस्तु तेजोद्रव्यमेव प्रभेति ॥’ तात्पर्य यह है कि प्रभा प्रदीपका गुण नहीं, स्वरूप है ।

उन्होंने और भी कहा है—“चैतन्यमेव हि अस्य स्वरूपमग्नेरिवौष्ण्य-प्रकाशौ नात्र गुणगुणिविभागो विद्यते इति—उष्णता एवं प्रकाश जिस प्रकार अग्निके स्वरूप हैं, उसी प्रकार चैतन्य भी आत्माका स्वरूप है । यहाँपर गुण-गुणी विभाग नहीं है । अर्थात् चैतन्य आत्माका गुण नहीं, स्वरूप है”—यही उनका वक्तव्य है ।

उल्लिखित युक्तियों द्वारा श्रीपादशंकरने प्रमाणित करना चाहा है कि ‘गुणात् वालोकवत्’ सूत्रमें श्रीव्यासदेवने ज्ञान और चैतन्यको आत्माका गुण जो बताया है, वह ठीक नहीं है ।

इसके पश्चात् उन्होंने कहा है—“गन्धोऽपि गुणत्वभ्युपगमात् साश्रय एवं सञ्चारितुमर्हति अन्यथा गुणत्वहानिप्रसंगात्”—गन्ध गुण होने के कारण अपने आश्रय गुणीके साथ संचारित होता है, नहीं तो उसके गुणत्वकी हानि होती है ।” अपनी इस उक्तिके अनुकूल उन्होंने श्रीव्यासदेवकी एक उक्तिका उल्लेख किया है—उपलभ्याप्सु चेद्गन्धं केचिद्ब्रह्मपुरनैपुण्याः । पृथिव्यामेव तं विद्यादपोवायुञ्च संश्रितमिति ।—जलमें गन्धका अनुभव करके यदि कोई अनिपुण व्यक्ति—कहे कि यह जलकी गन्ध है—तो भी उसे पृथिवीकी ही गन्ध जाननी चाहिए । पृथिवीकी गन्ध ही जल और वायु को आश्रय करती है ।”

मन्तव्य—‘गुणात् वालोकवत्’—सूत्रके सम्बन्धमें श्रीपाद शंकर

कहते हैं कि आत्मा यदि अणु हो, तो समस्त देहमें उसके गुण, चैतन्यकी व्याप्ति सम्भव नहीं; क्योंकि गुणीके बाहर गुणका रहना सम्भव नहीं। अतएव चैतन्य जब समस्त देहमें है, तब मानना होगा कि आत्मा भी समस्त-देह-व्यापी है। इस प्रकारकी आपत्तिकी आशंका करके ही व्यासदेवने 'व्यतिरेको गन्धवत्' सूत्र बनाया। इसी सूत्रमें श्रीपाद शंकरकी आपत्तिका उत्तर है।

आत्माके गुण चैतन्यके साथ आलोककी (प्रभाकी) उपमा देकर, प्रभाको प्रदीपका गुण बताया गया है। श्रीपाद शंकरने इसमें आपत्ति की है। वे कहते हैं कि प्रदीप और प्रभा एक ही तेजोजातीय वस्तु हैं—'घनत्व-प्राप्त तेजः प्रदीप' और 'तरल तेजः प्रभा'। एक जातीय वस्तु होनेके कारण, प्रभा, प्रदीपका गुण नहीं हो सकती। प्रभा प्रदीपका स्वरूप है।

चैतन्यके सम्बन्धमें उन्होंने यही कहा है। उष्णता एवं प्रकाश (प्रभा) जिस प्रकार अग्नि का स्वरूप है, चैतन्य भी उसी प्रकार आत्माका स्वरूप है, गुण नहीं है।

'गुणात् वालोकवत्' सूत्रके भाष्यमें श्रीपाद शंकराचार्यने स्वयं ही चैतन्यको आत्माका गुण बताया है—'चैतन्यगुणव्याप्तेर्वाऽणोरपि सतो जीवस्य सकल-देहव्यापिकार्यं न विरुध्यते।—जीव सूक्ष्म अणु होनेपर भी चैतन्यगुणकी व्याप्तिके कारण सम्पूर्णा-देह-व्यापी कार्य सम्पन्न करता है, इसमें कोई विरोध नहीं है। और भी 'तथा च दर्शयति—२।३।२७' सूत्रके भाष्यमें भी उन्होंने चैतन्यको आत्माका गुण कहकर स्वीकार किया है। आलोमभ्य आनखाग्नेभ्यः इति चैतन्येन गुणेन समस्तशरीरव्यापित्वं दर्शयति।' परवर्ती 'पृथगुपदेशात्—२।३।२८' सूत्रके भाष्यमें भी उन्होंने चैतन्यको आत्माका गुण बताया है। 'प्रज्ञया शरीरं समारूह्य इति चात्म-प्रज्ञयोः कर्तृकरणभावेन पृथगुपदेशात् चैतन्यगुणेनैवास्य शरीरव्यापिताऽव-गम्यते।' केवल उल्लेख मात्र ही नहीं, चैतन्य आत्माका गुण है, इसके समर्थनमें उन्होंने श्रुतिवाक्य भी उद्धृत किया है।

यहाँपर श्रीपाद शंकरकी उक्ति द्वारा ही उनकी आपत्तिका उत्तर दिया गया है।

जीव चैतन्य स्वरूप, ज्ञान स्वरूप है, ज्ञाता नहीं है, केवल ज्ञान मात्र है—यही यदि आचार्यपादका अभिप्राय हो, तो वह वेदान्त-सम्मत नहीं होगा। क्योंकि "ज्ञः अतएव—२।३।१८" वेदान्त सूत्रमें जीवको ज्ञाता बताया गया है।

चैतन्य आत्माका गुण है या स्वरूप, प्रभा प्रदीपका गुण है या स्वरूप, अथवा स्वरूप और गुण दोनों है—यहाँपर इन सबके विचारका कोई विशेष प्रयोजन नहीं है। श्रीव्यासदेव द्वारा यहाँपर उसका विचार करने का भी कोई प्रसंग नहीं है। गुण और गुणीमें, शक्ति और शक्तिमानमें जो भेदाभेद सम्बन्ध है, वह अन्यत्र प्रतिपादित हुआ है। जहाँ भेदाभेद सम्बन्ध है, वहाँ अभेद बुद्धिसे शक्तिको स्वरूप कहा जाता है और भेद बुद्धिसे शक्तिको गुण भी कहा जाता है। श्रीपाद शंकरने जो कहा है—‘नात्र गुण-गुणिविभागो विद्यते’ एक भावसे देखनेपर यह बात भी गलत नहीं है। क्योंकि, गुण एवं गुणीका—अग्नि एवं उसकी उष्णताकी तरह, मृगमद एवं उसकी गन्धकी तरह—अविच्छेद्य भावसे परस्परका सम्बन्ध है, तथापि अग्निके बाहर भी उसकी उष्णता और मृगमद (कस्तूरी) के बाहर भी उसकी गन्ध व्याप्त होती देखी जाती है। यही भेदाभेद सम्बन्धका मूल है। यहाँपर यह विचार अप्रासंगिक है। प्रभा प्रदीपका गुण हो चाहे न हो, प्रदीपसे प्रभा विस्तारित होती है, यह प्रत्यक्ष सत्य है। वस्तुतः इस सूत्रमें श्रीव्यासदेवने चैतन्य और प्रभाकी (आलोककी, प्रकाशकी) विस्तृतिकी सादृश्यताकी ओर ही लक्ष्य रक्खा है, उनके गुणत्वकी ओर नहीं। प्रदीपसे जैसे प्रभा विस्तृत होती है, आत्मासे चैतन्य भी उसी प्रकार विस्तृत होता है—यही निरूपण करना ही श्रीव्यासदेवका उद्देश्य है। प्रदीपकी प्रभा प्रदीपके बाहर विस्तृत नहीं होती,—इसको यदि श्रीपाद शंकराचार्य प्रमाणित कर सकते, तो व्यासदेवकी उपमा व्यर्थ होती, आत्मा से चैतन्य विस्तृति प्राप्त कर सकता है, यह प्रमाणित होता है। किन्तु श्रीआचार्यपादने जब वैसा नहीं किया, तब आलोच्य प्रसंगमें उनकी इस आपत्तिकी कोई भी सार्थकता नहीं दीखती।

गन्ध, गन्धके आधारपर या बाहर भी विस्तृत होती है, ‘व्यतिरेको गन्धवत्’ सूत्रमें व्यासदेवने यही दिखाया है। श्रीपाद शंकराचार्य कहते हैं कि गन्ध कभी भी गन्धके आश्रयको त्याग नहीं सकती। अपनी उक्तिके अनुकूल उन्होंने व्यासदेवकी जिस उक्तिको उद्धृत किया है, उससे उनकी उक्तिका समर्थन नहीं होता, बल्कि व्यासदेवकी सूत्रोक्ति ही समर्थित होती है; कारण, व्यासदेवने कहा है—पृथिवीमें गन्ध है, वह जलसे या वायुसे संचारित होती है। गन्ध पृथिवीमें ही रहती है, यह ठीक है, किन्तु जल और वायुसे ही उसकी विस्तृति होती है। इसी प्रकार, आत्माका गुण चैतन्य आत्मामें ही रहता है, यह ठीक है, किन्तु देहमें भी वह विस्तृत होता है।

गुण गुणीका त्याग नहीं करता, यह सत्य है। रूप भी एक गुण है, यह गुण रूपवानमें ही रहता है, उससे बाहर नहीं आता। अन्य कई गुणोंके सम्बन्धमें भी इसी प्रकार हो सकता है। किन्तु गन्धके लिए व्यतिक्रम है; गन्ध, गन्धके आश्रयसे बाहर भी विस्तृत होती है। यही व्यासदेवके सूत्रका मर्म है। गन्धके सम्बन्धमें यह व्यतिक्रम है, 'व्यतिरेको गन्धवत्' सूत्रके भाष्यमें श्रीपाद शंकरने भी यह स्वीकार किया है। इस भाष्यमें उन्होंने कहा है—'यदि कहा जाय कि गुण जब अपने आश्रयसे बाहर अन्यत्र नहीं रहता, तब मानना होगा कि गन्धद्रव्यके परमाणुका आश्रय कर गन्ध नासिकामें प्रवेश करती है, तभी गन्धकी अनुभूति होती है। किन्तु ऐसा नहीं हो सकता; कारण, यदि गन्धको लेकर द्रव्य परमाणु ही नासिकामें आते, तो द्रव्यका गुरुत्व (वजन) कम हो जाता; वास्तवमें ऐसा होता नहीं। विशेषतः परमाणु अतीन्द्रिय वस्तु होनेके कारण इन्द्रियग्राह्य नहीं है; नागकेशर आदिकी गन्ध स्पष्ट भावसे अनुभूत होती है। लौकिक प्रतीति भी ऐसी ही है कि गन्धकी ही घ्राण मिलती है, गन्धवान द्रव्यकी घ्राण नहीं। और यदि कहा जाय कि रूपादिकी जैसे आश्रयके बिना उपलब्धि नहीं होती, वैसे ही गन्धकी भी आश्रयके बिना उपलब्धि असम्भव है, तो ऐसी बात नहीं है, 'न, प्रत्यक्षत्वात् अनुमाना प्रवृत्तोः।— आश्रयके बिना भी गन्धका अनुभव होता है, यह प्रत्यक्ष है, प्रत्यक्षमें अनुमानका स्थान नहीं।' श्रीपाद शंकरकी यह युक्ति ही 'तद्गुणसारत्वात्' इत्यादि सूत्र प्रसंगमें अणुत्व-खण्डनके प्रति उनकी अन्य प्रकारकी युक्तिका उत्तर है।

इसके बाद उन्होंने 'तद्गुणसारत्वात् तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्(२।३।२६)' सूत्रका भाष्य किया है। इस सूत्रके श्रीरामानुज भाष्यका भाव पहले ही बताया जा चुका है। श्रीपाद शंकर कहते हैं—“तस्या बुद्धेर्गुणास्तद्गुणा इच्छाद्वेषः सुखं दुःखमित्येवमादयस्तद्गुणाः सारः प्रधानः यस्यात्मनः संसारित्वे सम्भवति स तद्गुणसारस्तस्य भावस्तद्गुणसारत्वम् । नहि बुद्धेर्गुणोविना केवलस्यात्मनः संसारित्वमस्ति । बुद्ध्युपाधिधर्माध्यासनिमित्तं हि कर्त्तव्यभोक्तृत्वादिलक्षणं संसारित्वमकर्तुरभोक्तुश्चासंसारिणः, नित्यमुक्तस्य सत आत्मनः । तस्मात्तद्गुणसारत्वाद् बुद्धिपरिमाणेनाऽस्य परिमाणव्यपदेशः । तदुत्क्रान्त्यादिभिश्चास्योत् क्रान्त्यादिव्यपदेशः, न स्वतः ।— इच्छा, द्वेष, सुख, दुःखादि बुद्धिके ही गुण हैं, बुद्धि ही इन समस्त गुणों

की सार है। आत्माका स्वरूपतः कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि नहीं है। बुद्धिके उपाधि-सम्भूत धर्मके अध्यासके वशीभूत ही आत्मामें कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि दीखते हैं, इसीसे इसका संसारित्व है। बुद्धिके गुणके अतिरिक्त आत्माका (परमात्माका या ब्रह्मका) संसारित्व हो नहीं सकता। इस बुद्धिके परिमाणके अनुसार ही आत्मामें (सूक्ष्मत्वादि) परिमाणका व्यपदेश (प्रसिद्धि) है। बुद्धिके उत्क्रमणादिवश ही आत्माके उत्क्रमणादिका भी व्यपदेश है। आत्मामें अपना उत्क्रान्त्यादि नहीं है।

मन्तव्य—भाष्यके आरम्भके पूर्वमें अणुत्व खण्डनके लिये श्रीपाद शंकरने जितनी युक्तियां दिखाई हैं, उनमेंसे एक भी विचार सह नहीं है, यह पहले ही बताया जा चुका है। अतएव, इस सूत्रके भाष्य द्वारा ही उनको जीवके विभुत्वका प्रतिपादन करना पड़ा। किन्तु विभुत्व प्रतिपादन की युक्ति में ही उन्होंने जीवका विभुत्व ग्रहण कर लिया, क्योंकि वे मायाकी बुद्धि-उपाधियुक्त ब्रह्मको ही 'जीव' कहते हैं। अतएव, यह एक हेत्वाभास-नामक दोष है। इसीलिये यह युक्ति न्यायसंगत या प्रमाण रूपसे गृहीत अर्थात् स्वीकार नहीं हो सकती।

वे और भी कहते हैं—'एनमुपाधिगुणतारत्वाज्जीवस्थानुत्वादिव्यपदेशः प्राज्ञवत्। यथा प्राज्ञस्य परमात्मनः सगुणेषु उपासनाषु उपाधिगुणसारत्वाद् अणीयस्तादिव्यपदेशः' इत्यादि—सगुण उपासनामें उपाधिके गुणकी प्रधानतासे परमात्माको जिस तरह अणु, सर्वगन्ध, सर्वरस इत्यादि कहा जाता है, उसी प्रकार उपाधिके गुणकी प्रधानतासे जीवको भी अणु कहा गया है।

मन्तव्य—इस सूत्रके 'प्राज्ञवत्' शब्दके 'वत्' अंशसे ही स्पष्ट है कि व्यासदेवने इस सूत्रमें एक उपमाकी अवतारणाकी है। दो पृथक् वस्तुएं हुए बिना उपमा नहीं होती—एक होता है उपमान एवं दूसरा होता है उपमेय; जैसे चन्द्रमाके समान सुन्दर मुख, यहाँ चन्द्रमा और मुख दो पृथक् वस्तुएं हैं, सौन्दर्यांशमें उनकी सदृशता है। सूत्रमें कहा गया है—प्राज्ञका (ब्रह्मका) जैसे व्यपदेश (प्रसिद्धि) है वैसा ही जीवका व्यपदेश है। अतएव जीव और ब्रह्म दो पृथक् वस्तुएं हुए बिना उपमा नहीं हो सकतीं। श्रीपाद शंकराचार्य द्वारा जीवको भी ब्रह्म कहे जानेसे सूत्रका स्थूल अर्थ यह रहेगा—ब्रह्मका जैसा व्यपदेश है, वैसा ही ब्रह्मका भी व्यपदेश है। यदि कहा जाय कि वे तो जीवको मायाकी बुद्धि-उपाधियुक्त ब्रह्म कहते हैं। इसलिए, ब्रह्मका जैसा व्यपदेश है, मायाबुद्धि-उपाधियुक्त ब्रह्म या जीवका

भी वैसा व्यपदेश है— इस अर्थ में क्या आपत्ति है ? तो इसका उत्तर यह है—प्रकरण है जीवस्वरूपके सम्बन्धमें अर्थात्—शुद्धजीवके सम्बन्धमें, मायाबद्ध संसारी जीवके सम्बन्धमें नहीं है। मायाबद्ध जीव शुद्धजीव नहीं है। श्रीपाद शंकराचार्यके मत से जीवका स्वरूप ही है ब्रह्म। व्यासदेवने भी अपने सूत्रमें जीवस्वरूप अर्थात् शुद्धजीवके साथ ही व्यपदेश विषयमें ब्रह्मकी उपमा दी है। अतएव श्रीपाद शंकराचार्यके मतके अनुसार सूत्रका स्थूल अर्थ होगा—“ब्रह्मका जैसा व्यपदेश है, ब्रह्मका भी वैसा ही व्यपदेश है।” इसका कोई अर्थ ही नहीं बनता एवं इससे व्यासदेवकी उपमा की संगति भी नहीं रहती।

इसके अतिरिक्त जीवको श्रीशंकराचार्यने मायाकी उपाधिसे युक्त ब्रह्म वताया है। और जिस ब्रह्मकी उपासनाकी बात श्रुति उपदेश देती है, उसको भी उन्होंने मायाकी उपाधियुक्त ब्रह्म कहा है—“सगुरोषु उपासनासु उपाधिगुणसारत्वाद् अणीयस्तादिव्यपदेशः” एवं सूत्रस्थ ‘प्राज्ञ’ शब्दसे भी उसी ब्रह्मका उन्होंने लक्ष्य किया है। तब उनके कथनानुसार सूत्रका स्थूल अर्थ रहेगा—मायाकी उपाधियुक्त (सगुण) ब्रह्मका जैसा व्यपदेश है, मायाकी उपाधियुक्त (जीव रूप) ब्रह्मका भी वैसा ही व्यपदेश है। इसका भी पूर्ववत् कोई अर्थ नहीं बनता। विशेषतः प्रकरण संगत भी नहीं है, क्योंकि प्रकरण है शुद्धजीवके विषयका, मायाबद्ध संसारी जीवका नहीं।

मायोपहत ब्रह्म ही जीव है, एवं मायोपहत ब्रह्मकी उपासनाकी बात ही श्रुति बतलाती है—श्रीपाद शंकराचार्यका यह मत श्रुतिसंगत नहीं है।

सूत्रमें अवतारित उपमा द्वारा ही व्यासदेव बतलाते हैं कि जीव और ब्रह्म दो पृथक् वस्तुएँ हैं। अतः ब्रह्म जब विभु है तो जीव विभु नहीं हो सकता। कारण, दो पृथक् विभु वस्तुओंके अस्तित्वकी कल्पना नहीं की जाती।

अब उत्क्रमणके सम्बन्धमें लीजिये। उन्होंने कहा है—“बुद्धिके उत्क्रमणादिके कारण आत्माके उत्क्रमणादिका भी व्यपदेश है। आत्माका अपना उत्क्रमणादि नहीं है।” यह भी श्रीव्यासदेवके ‘उत्क्रान्तिगत्याणतीनाम् (२।३।१६) सूत्रकी उक्तिका प्रतिवाद है। इस सूत्रके भाष्यमें श्रीपाद शंकरने जिन सब श्रुतिवाक्योंका उल्लेख किया है, उससे स्पष्ट समझा

जाता है कि उत्क्रमणादि स्वयं जीवका ही है, बुद्धिका नहीं । 'स यदा अस्मात् शरीरात् उत्क्रामति सह एव एतैः सर्वैः उत्क्रामति (कौषीतकी उपनिषद् ३।३)—वह जीव जब देह छोड़कर जाता है, तब इन समस्त (बुद्धि, इन्द्रिय) के साथ ही जाता है ।' यहाँपर उत्क्रान्ति दिखायी गयी । "ये वे के च अस्मात् लोकात् प्रगस्ति चन्द्रमसम् एव ते सर्वे गच्छन्ति (कौषीतकी १।२)—जो इस पृथिवीसे गमन करते हैं, वे सभी चन्द्र लोकमें जाते हैं ।" यहाँपर जीवकी गति दिखायी गयी । 'तस्मात् लोकात् पुनः एति अस्मै लोकाय कर्मणे (बृहदारण्यक ४।४।६)—कर्म करनेके लिये पुनः परलोकसे इस पृथ्वीपर आते हैं ।" यहाँपर आगमन दिखाया गया । इन सब श्रुतिवाक्योंसे किसीमें भी बुद्धिका गमनागमन या उत्क्रमणकी बात नहीं कही गयी है, जीवकी (जीवात्माकी) गमनागमनादिकी बात ही कही गयी है । अतः इस प्रसंगमें श्रीपाद शंकराचार्यकी उक्ति श्रुति विरोधी होनेसे ग्राह्य नहीं हो सकती ।

भाष्यमें 'बालाग्रशतभागस्य'—इत्यादि श्रुतिवाक्योंके उल्लेख द्वारा जीवके विभुत्वके प्रतिपादनके लिए श्रीपाद शंकरने एक युक्ति भी दिखाई है, जो विचार सह नहीं है । सम्पूर्ण श्रुतिवाक्य इस प्रकार है—

“बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य तु ।
भागो जीवः स विज्ञेयः स आनन्त्याय कल्पते ॥”

इस वाक्यके दो अंश हैं । प्रथम अंश है 'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य तु । भागो जीवः स विज्ञेयः' और दूसरा अंश 'स आनन्त्याय कल्पते ।' प्रथम अंशमें जीवकी सूक्ष्मता या अणुत्वकी बात कही गयी है । दूसरे अंशमें जीवके आनन्त्यकी बात कही गयी है । आनन्त्यका अर्थ है—अनन्तका भाव । अनन्तका अर्थ है—जिसका अन्त नहीं । अन्तका अर्थ—सीमा भी हो सकता है, शेष या विनाश या ध्वंस भी हो सकता है । सीमा अर्थ माननेपर अनन्त शब्दका अर्थ होगा—असीम या विभु और आनन्त्य शब्दका अर्थ होगा—विभुत्व । अन्त शब्दका अर्थ शेष, या ध्वंस या विनाश माना जाय तो अनन्त शब्दका अर्थ होगा—ध्वंसहीन या अविनाशी अर्थात् नित्य, और आनन्त्य शब्दका अर्थ होगा—नित्यत्व । श्रीपाद शंकरने विभुत्व अर्थ ही ग्रहण किया है । तदनुसार उन्होंने कहा है—'बायाग्रशतभागस्य' इत्यादि श्रुतिवाक्यके प्रथम अंशमें जीवको सूक्ष्म कहा

गया है एवं दूसरे अंशमें विभु कहा गया है। एक ही जीवका अणुत्व और विभुत्व सम्भव नहीं। एकको ही पारमार्थिक तत्त्व-रूपसे ग्रहण करना होगा 'जीवका विभुत्व ही पारमार्थिक है; और उसका अणुत्व औपचारिक है अथवा दुर्ज्ञेयता-ज्ञापक है'—इस युक्ति द्वारा उन्होंने जीवके विभुत्व स्थापन का प्रयास किया है।

मन्तव्य - उल्लिखित श्रुतिके उक्त रूप अर्थ करनेपर श्रीपाद शंकरने लक्षणावृत्तिके आश्रयसे श्रुतिवाक्यके पूर्व अंशके अर्थकी उपेक्षा की है। किन्तु शास्त्र कहते हैं कि जहाँपर मुख्यावृत्तिके अर्थ की संगति नहीं बैठे, केवल वहीं लक्षणावृत्तिका आश्रय लिया जाता है। मुख्यावृत्तिकी संगति रहनेपर लक्षणाका आश्रय दूषणीय है। आनन्त्य शब्दका नित्यत्व अर्थ ग्रहण करनेपर मुख्यावृत्तिके अर्थकी संगति रहती है। आनन्त्य शब्दके नित्यत्व अर्थसे उल्लिखित श्रुतिवाक्यके दूसरे अंशमें जीवका नित्यत्व सूचित होता है, यह शास्त्र सम्मत ही है। सम्पूर्ण वाक्यका अर्थ तात्पर्य है—“जीव सूक्ष्म है एवं यह सूक्ष्म जीव नित्य भी है।” यही अर्थ वेदान्त सूत्र सम्मत है। वेदान्तके गोविन्दभाष्यमें भी आनन्त्य शब्दका अर्थ नित्यत्व ही ग्रहण हुआ है।

“बालाप्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्यतु ।

भागो जीवः स विज्ञेयः सा चानन्त्याय कल्पते ॥१४॥

इति श्वेताश्वतरैः ।

ताभ्यामणुरेव सः । आनन्त्यशब्दो मुक्त्यभिधायी । अन्त्योमरणं तद्वाहित्यमानन्त्यमित्यर्थः ॥ स्वशब्दोन्मानाभ्यांच इति ॥ २।३।२२ सूत्रस्थ गोविन्दभाष्यः ॥”

श्री जीवगोस्वामीके मतसे श्रुतिका यह आनन्त्य शब्द संज्ञा द्योतक है। जीवोंकी संख्या अनन्त है। उक्त श्रुतिके उल्लेख द्वारा उन्होंने कहा है—“तदेवमनन्ता एव जीवाख्यास्तटस्थाः शक्तयः । (परमात्मसन्दर्भ । ४४ ।)” इस अर्थमें भी मुख्यावृत्तिके अर्थकी संगति रहती है। जीवस्वरूपसे अणुतुल्य सूक्ष्म है, संख्यामें अनन्त है। अतएव श्रीपाद शंकराचार्य का गौणार्थ एवं उसकी अनुगत युक्ति शास्त्रसम्मत नहीं हो सकती।

श्रुतिवाक्यके प्रथम अंशमें जीवकी जो सूक्ष्मताकी बात कही गयी है, वह परिमाणगत सूक्ष्मता है। केशके अग्रभागके दस सहस्र भागके एक

भागके समान ही जीवका परिमाण है—यह उक्ति ही उसका प्रमाण है। यही स्पष्ट अर्थ है—कष्ट-कल्पना प्रसूत अर्थ नहीं। परिमाणगत सूक्ष्मताका स्पष्ट उल्लेख रहनेसे औपचारिक या दुर्ज्ञेयता सूचक सूक्ष्मताका प्रश्न ही नहीं उठ सकता।

इस आलोचनाके प्रसंगमें एक विशेष बात मनमें रखनेकी है कि वेदान्त सूत्रमें व्यासदेवने कहा है —

(१) जीवात्मा अणु है, (२) जीवात्मा हृदयमें अवस्थित है, एवं (३) हृदयमें अवस्थित रहकर यह अणु परिमित आत्मा समस्त देहमें चेतनाका विस्तार करती है। इन तीनों बातोंके—प्रत्येकके पीछे श्रुतिका स्पष्ट समर्थन है।

(१) अणुत्वकी समर्थक 'एषः अणुः आत्मा' इत्यादि मुण्डकोपनिषद्की उक्ति, 'अणुप्रमाणात्' इत्यादि वठोपनिषद्की उक्ति, और 'बालाग्रशतभागस्य' इत्यादि श्वेताश्वतरोपनिषद्की उक्ति है। (२) हृदयमें अवस्थितिके सम्बन्धमें 'हृदि हि एष आत्मा' इत्यादि प्रश्नोपनिषद्की उक्ति, और 'स वा एष आत्मा हृदि' इत्यादि छान्दोग्योपनिषद्की उक्ति है। (३) समस्त देहमें चेतना व्याप्तिके सम्बन्धमें 'आलोमभ्य आनखाग्रेभ्यः' इत्यादि छान्दोग्योपनिषद्की उक्ति है। इन सबका उल्लेख पहले ही हो चुका है। 'श्रुतेस्तु शब्दसूलत्वात्'— इस वेदान्त सूत्रके अनुसार इन सब श्रुतिवाक्योंका मर्म हम लोगोंकी साधारण बुद्धिके अगोचर होनेपर भी ग्रहणीय है। तथापि, हृदयमें रहकर अणु परिमित जीवात्मा किस प्रकार समस्त देहमें अपनी चेतनाका विस्तार करती है, इसको समझानेके लिए व्यासदेवने चन्दन, आलोक और गन्धका दृष्टान्त दिया है। उल्लिखित आलोचनामें देखा गया है कि श्रीपाद शंकरने इन दृष्टान्तोंकी (आलोक और गन्धके दृष्टान्तोंकी) ही असंगति दिखानेकी चेष्टा की है। तर्कके लिए यदि स्वीकार भी कर लिया जाय कि दृष्टान्तोंकी संगति नहीं है, तो भी, जिस बातको समझानेके लिए व्यासदेवने इन दृष्टान्तोंका प्रयोग किया है, वह (समस्त देहमें चैतन्यके व्यापक होनेकी बात) मिथ्या नहीं हो सकती। दृष्टान्तकी असंगतिसे दार्ष्टान्त मिथ्या नहीं हो जायगा। किसीकी अंगुली बहुत अधिक सूज जानेपर हम लोग साधारणतया कहते हैं कि अंगुली सूजकर मानों केलेका वृक्ष हो गयी है। अब कोई यदि अंगुली और

केलेके वृक्षके स्वरूप, गठन और धर्मादिकी आलोचना करके कहे कि केलेके वृक्षका दृष्टान्त नहीं घटता, अंगुली सूजकर कभी भी केलेके वृक्ष जैसी नहीं हो सकती, तो भी अंगुलीके सूजनकी बात मिथ्या नहीं हो जायगी ।

श्रुतिमें आत्माके विभुत्वकी बात भी अवश्य है । इसके सम्बन्धमें व्यासदेवने 'न अणुः अतच्छ्रुतेः इतिचेत् न इतराधिकारात् (२।३।२१) सूत्रमें कहा है— 'श्रुतिमें आत्माके विभुत्वकी बात मिलती है, यह सत्य है; किन्तु वह बात जीवात्माके सम्बन्धमें नहीं है, परमात्माके सम्बन्धमें है।' इसीसूत्रमें व्यासदेवने जीवात्माके विभुत्वका खण्डन किया है । इसी सूत्रके 'इतराधिकारात्—अन्य आत्मा विषयक होनेके कारण' शब्दों द्वारा समझा जाता है कि व्यासदेवने दो आत्माकी बात कही है । एक आत्मा अणु और एक आत्मा विभु है । जो अणु है, वही जीव है और जो विभु है, वही ब्रह्म या परमात्मा है । अतएव जीवके विभुत्व स्थापनाके प्रयासको वेदान्त विरोधी कहा जाय तो भी अत्युक्ति नहीं होगी ।

उपर्युक्त आलोचनासे समझा गया कि जीवके विभुत्वके प्रतिपादनके उद्देश्यसे श्रीपाद शंकराचार्यने आलोच्य वेदान्त सूत्रोंका जो भाष्य किया है, वह विचारसंयुक्त नहीं है एवं उसके उपलक्षमें उन्होंने जिन युक्तियोंका प्रयोग किया है, वे सब भी विचारसंयुक्त नहीं । अतएव जीवात्माका अणुत्व ही वेदान्तसम्मत है ।

जीवका अणुत्व परिमाणगत है—

पहले ही बताया जा चुका है कि "बालाप्रशतभागस्य शतधा-कल्पितस्य" इत्यादि श्रुतिमें कहा गया है कि केशके अग्रभागको शतभाग करके, उसके प्रत्येक भागके फिर शतभाग करनेपर प्रत्येक भागका जो परिमाण होगा वही जीवका परिमाण है । इस श्रुतिमें स्पष्ट भावसे परिमाणगत सूक्ष्मताकी बात कही गयी है । श्रीमद्भागवत से भी परिमाणगत सूक्ष्मता की बात जानी जाती है । श्रीभगवान्ने कहा है— "महताञ्च महानहम् । सूक्ष्मणामप्यहं जीवः (११।१६।११)—वृहत् परिमाण विशिष्ट वस्तुओंके बीच मैं महत्त्व हूँ एवं सूक्ष्म (या क्षुद्र) परिमाण विशिष्ट वस्तुओंके बीच जीव हूँ ।" "तस्मात् सूक्ष्मतापराकाष्ठां प्राप्नो जीवः । दुर्ज्ञेयत्वात् यत् सूक्ष्मत्वं तदत्र न विवक्षितं महताञ्च महानहं सूक्ष्मणामप्यहं जीव इति परस्परप्रतियोगित्वेन वाक्यद्वयस्यान्तर्योक्तौ स्वारस्य भंगात्

(परमात्मसन्दर्भं ३४)” काठकोपनिषद्की अणुप्रमाणात् (१।२।८)—उक्ति भी जीवात्माकी परिमाणगत सूक्ष्मताका प्रमाण ही देती है। इस प्रकार परिमाणगत अणुत्व ही जब स्पष्ट भावसे उल्लिखित हुआ है, तब औपचारिक या दुर्ज्ञेयतावश अणुत्वका प्रश्न ही नहीं उठता, जिसका श्री शंकर-आचार्यने उल्लेख किया है।

जीव चित्-कण है—

पहले बताया जा चुका है कि जीवशक्ति चिद्रूपा है। यह भी बताया जा चुका है कि जीव, जीवशक्तियुक्त ब्रह्म या श्री कृष्णका अंश है। श्री कृष्ण चिद् वस्तु हैं। अतएव जीवशक्तिविशिष्ट श्री कृष्ण चिद्वस्तु है एवं उनका अंश जीव भी चिद्वस्तु है। और जीवका परिमाण अणु या कण है, अतएव जीव ब्रह्मका चित्-कण अंश ही है। श्री कृष्ण हैं विभुचित्; और जीव है अणुचित्। भगवान् के स्वांश-भगवत-स्वरूपगण सब ही विभुचित् हैं, इसलिये वे सब ही सर्वज्ञ, अनन्त और विभु हैं—“सर्वे पूर्णाः शाश्वताश्च ।” और उनका विभिन्नांश जीव अणु-चित् है ॥

जीवका नित्यत्व है—

जिसकी उत्पत्ति है, उसका विनाश भी है। अतएव वह नित्य नहीं हो सकता। प्राकृत ब्रह्माण्डमें देखनेमें आता है कि मनुष्य-पशु-पक्षी आदि जीवोंके जन्म भी हैं और मृत्यु भी। क्या जीवात्माके भी उसी प्रकार जन्म और मृत्यु हैं? क्या जीवात्माकी उत्पत्ति होती है?—इसके उत्तरमें वेदान्त सूत्रमें व्यासदेव कहते हैं :—

‘न आत्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्चताभ्यः—२।३।१७—आत्मा न’ अर्थात् जीवात्मा उत्पन्न नहीं होता, ‘श्रुते’—श्रुति यही कहती है।

न जायते म्रियते वा विपश्चिन् नायं कुतश्चिन्न वभूव कश्चित् ।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥१५॥

(कठ ॥ १।२।१८ ॥)

आत्माका जन्म भी नहीं है मृत्यु भी नहीं है। यह किसी कारणान्तर से नहीं आता, स्वयं भी अन्य किसीका कारण नहीं है। शरीर नष्ट होनेपर भी यह शरीरके साथ नष्ट नहीं होता। ‘ज्ञाज्ञो द्वावजावीशानीशावजा इत्यादि (श्वेताश्वतर १।६)—सर्वज्ञ ईश्वर एवं अल्पज्ञ जीव तथा जीवकी भोग्या प्रकृति ये सभी अज (जन्मरहित) हैं।’ ‘नित्यत्वात्भाभ्यः—श्रुति

स्मृति दोनोंसे ही जीवात्माके नित्यत्वकी बात जानी जाती है । 'च' चेतनत्वं च-शब्दात्—'च' शब्दसे आत्माकी चेतनता समझी जाती है । "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम् अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराण इत्याद्याः— नित्यका भी नित्य, चेतनका भी चेतन; अज, नित्य, शाश्वत—इस प्रकार श्रुति और स्मृतिका प्रमाण है" —(गोविन्दभाष्य) ।

"एवं सति जातो यज्ञदत्तो मृतश्चेति योऽयं लौकिको व्यवहारो यश्च जातकर्मादिविधिः स तु देहाश्रित एव भवेत्—यज्ञदत्तका जन्म हुआ है, यज्ञदत्तकी मृत्यु हुई है, यह जो लौकिक व्यवहार है एवं जीवकी जो जात-कर्म आदि विधियाँ हैं, वे केवल देहाश्रित जीवके सम्बन्धमें हैं ।" बृहदारण्यक श्रुति भी कहती है—'स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरम् अभिसम्पद्यमानः स उत्क्रामन् त्रियमाण इति—जीव जन्मके समय देहको प्राप्त होता है और मृत्युकालमें देह छोड़कर चला जाता है ।' छान्दोग्य उपनिषद् भी कहता है—"जीवापेतं वाव किलेदं त्रियते न जीवो त्रियत इति—जीवकी मृत्युसे, जीवात्मासे विश्लिष्ट (सम्बन्धित) देहका ध्वंस ही अभिप्रेत है—(गोविन्दभाष्य) ।"

इस प्रकार जाना जाता है कि जीवात्माका जन्म भी नहीं है, मृत्यु भी नहीं है । जीवात्मा नित्य है । मायाबद्ध जीवके—मायिक देहके ही जन्म और मृत्यु होते हैं ।

जीवका नित्य पृथक् अस्तित्व है—

जीवका अणुत्व जब उसका स्वरूपगत है, तब वह नित्य भी है, क्योंकि कोई भी अनित्य या आगन्तुक वस्तु स्वरूपके अन्तर्भूत नहीं हो सकती ।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः (श्री गी० १५।७) इस वाक्यमें भी जीव-स्वरूपको—सनातन या नित्य कहा गया है ।

"अन्त्यावस्थितेः च उभयनित्यत्वात् अविशेषः (२।२।३६) इस वेदान्तसूत्रमें कहा गया है—"अन्त या शेष अवस्थामें (मोक्ष-प्राप्तिके पश्चात्) जीवात्मा जिस भावसे रहता है, उस समय जीवात्मा एवं उसके परिमाण, इन दोनों पदार्थोंके नित्यत्वके कारण 'अविशेष'—अर्थात् मोक्षके पूर्व या पश्चात् उसके परिमाणमें कोई भी अन्तर नहीं हो सकता । इस सूत्रसे

जाना जाता है कि मोक्षके पश्चात् भी जीवात्मा अणु-परिमित ही रहता है ।

जीवका अणुत्व जब नित्य है और मोक्ष-प्राप्तिके पश्चात् भी जीवात्मा जब अणु परिमित ही रहता है, तब सहज ही समझमें आ जाता है कि जीवात्मा कभी भी विभु नहीं हो सकता । प्रश्न हो सकता है कि सायुज्य मुक्तिमें जीव जब ब्रह्मके साथ लय हो जाता है, तब भी क्या विभुत्वको प्राप्त नहीं होता ? - उत्तरमें कहा जाता है कि नहीं, तब भी विभुत्वको प्राप्त नहीं होता, क्योंकि जीवात्मा स्वरूपसे अणु है, किसी भी अवस्थामें वस्तुके स्वरूपका धर्म नष्ट नहीं होता । श्रीपाद शंकराचार्यके मतसे माया-ग्रसित ब्रह्म ही जीव है, मायामुक्त होते ही जीव, ब्रह्म हो जाता है, और तब विभुत्वको प्राप्त होता है । किन्तु यह मत विचारसगत नहीं है, यह हम पहले ही देख चुके हैं । ब्रह्म, ज्ञानस्वरूप होनेके कारण, कभी भी मायाके अज्ञान द्वारा आच्छादित नहीं हो सकता, यदि हो तो ब्रह्ममें ज्ञानस्वरूपता ही नहीं रहती । सायुज्य मुक्तिमें जीव, ब्रह्मके साथ तादात्म्य मात्रको प्राप्त होता है, उससे जीवका पृथक् अस्तित्व विलुप्त नहीं होता, किन्तु ब्रह्मानन्द रूप महासमुद्रमें क्षुद्र कणिकाकी तरह उसी प्रकार अवस्थित रहता है, जिस प्रकार कि बहुत विस्तीर्ण प्रज्वलित-अग्नि-राशिके बीच, क्षुद्र लोहखण्ड, अग्नि-तादात्म्य प्राप्त होकर, अग्निका आकार धारण करके भी अपने पृथक् अस्तित्वकी रक्षा करता है । मुक्त अवस्थामें भी जीवके पृथक् अस्तित्वकी बात श्रीपाद शंकराचार्यने भी अपने नृसिंह-तापनी भाष्य (२।५।१६१) में स्वीकार की है । 'मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भगवन्तं भजन्ते—मुक्त जीवगण भी भक्तिकी कृपासे देह-धारण करके भगवान्का भजन करते रहते हैं ।' देह-धारण-रूप कार्य भक्तिकी कृपासे हो सकता है, किन्तु मुक्त अवस्थामें जीवका पृथक् अस्तित्व ही यदि न रहे, तो देह धारण करेगा कौन ? श्रीपाद शंकराचार्यकी उल्लिखित उक्ति द्वारा मुक्त अवस्थामें भी जीवके पृथक् अस्तित्वकी बात जानी जाती है । श्रुतिकी उक्तिसे भी मुक्त पुरुषोंके भजनकी बात प्रमाणित होती है, यथा 'मक्ता अपि हि एनम् उपासते—सौपर्यश्रुतिः ।'

ब्रह्मश्रुतिमें भी मुक्त पुरुषके भजनकी बात देखनेमें आती है । 'आप्रायणात् तत्रापि हि दृष्टम् (ब्र० सू० ४।१।२२)' 'रसो वै सः । रसं

ह्येवायं लब्धवानन्दी-भवति ।' इस श्रुतिवाक्यसे भी मुक्त अवस्थामें जीवके पृथक् अस्तित्वकी बात जानी जाती है। इस श्रुतिवाक्यका कहना है कि रसस्वरूप ब्रह्मको पाकर ही जीव आनन्दी हो सकता है। मुक्त अवस्थामें ही रस-स्वरूप ब्रह्मको पाया जा सकता है, इसके पूर्व नहीं; उनको पाकर जीव आनन्दी होता है, यही बात श्रुतिने कही है, आनन्द होता है, ऐसा नहीं कहा। आनन्द एक वस्तु है, आनन्दी दूसरी वस्तु है; जैसे धन एक वस्तु है और धनी दूसरी वस्तु है। अतएव 'आनन्दी' शब्दसे ही मुक्त जीवका पृथक् अस्तित्व सूचित होता है।

विभेदजनकेऽज्ञाने नाशमात्यन्तिकं गते ।

आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं कः करिष्यति ॥१६॥

(वि० पु० ६।७।६४)

उपर्युक्त श्लोककी व्याख्यामें श्रीपाद जीवगोस्वामीने भी अपने परमात्मसन्दर्भ (२६) में मुक्त जीवके पृथक् अस्तित्व की बात कही है। 'देवत्व-मनुष्यत्वादिलक्षणो विशेषतो यो भेदस्तस्य जनकेऽपि अज्ञाने नाशं गते, ब्रह्मणः परमात्मनः सकाशात् आत्मनो जीवस्य यो भेदः स्वाभाविकः तं भेदं असन्तं कः करिष्यति? अपितु सन्तं विद्यामानमेव सर्वः करिष्यतीत्यर्थः। — मोक्षदशायामपि तदंशत्वाव्यभिचारः स्वाभाविकशक्तित्वादेव ।' परमात्म-सन्दर्भमें अन्यत्र भी उन्होंने कहा है—'देवमनुष्यादिनामरूप-परित्यागेन तस्मिन् लीनेऽपि स्वरूपभेदोऽस्त्येव तत्तदंशसद्भावात् ।'

उल्लिखित प्रमाण आदिसे जाना जाता है कि मुक्त जीवका पृथक् अस्तित्व रहता है।

जीव संख्यामें अनन्त हैं—

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य तु ।

भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥१७॥

उपर्युक्त श्रुतिवाक्यके अन्तर्गत 'आनन्त्य' शब्दका अर्थ श्रीजीव-गोस्वामीने परमात्मसन्दर्भ (४४) में 'अनन्त संख्या' किया है, यह पहले ही बताया जा चुका है। अतएव इस श्रुतिवाक्यसे जीवकी संख्या अनन्त निर्धारित होती है।

श्रीमद्भागवत (१०-८७-३०) के अपरिमिता घ्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगतास्तर्हि न शास्येति' इत्यादि श्लोककी टीकामें श्रीजीवगोस्वामीने

लिखा है—“अपरिमिता वस्तुत एव अनन्तसंख्या नित्याश्च ये तनुभृतो जीवास्ते इत्यादि (परमात्मसन्दर्भ ३५)—जीवकी संख्या अनन्त है एवं जीव नित्य है ।” उक्त श्लोककी श्रीधर स्वामीकी टीकासे भी इसी प्रकार का अर्थ जाना जाता है । अतएव श्रीमद्भागवतका भी कहना है कि जीवों की संख्या अनन्त है ।

जीवके स्वरूपगत अणुत्वसे भी जीवकी संख्याकी अनन्तता सूचित होती है । इस ब्रह्माण्डमें हम अनन्तकोटि देहधारी जीव देखते हैं । उन सबके हृदयमें अणुरूप जीवात्मा विद्यमान है । अनन्त कोटि देहोंमें अनन्त कोटि जीवात्मा हैं । अतएव जीवात्माकी संख्या अनन्त है ।

जीव ज्ञानस्वरूप एवं ज्ञाता है—

पहले कहा जा चुका है कि जीव चिद्रूप है—चैतन्यस्वरूप ज्ञान-स्वरूप है । ज्ञानस्वरूप होकर भी ज्ञाता है, यही बात वेदान्त-सूत्र भी कहते हैं—“ज्ञः अतएव— (२।३।१८)—जीव ज्ञः अर्थात् ज्ञाता है ।” इस सम्बन्धमें श्रुति प्रमाण यह है—“अथ यो वेद इदं जिघ्राणि इति स आत्मा (छान्दोग्य)—जो जानता है कि यह आघ्राण कर रहा है, वही आत्मा है ।”

प्रश्नोपनिषद् (४-६) भी बताता है—एष हि द्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः—यह जीव ही द्रष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता, बोद्धा, कर्ता और विज्ञानात्मा है ।

परमात्मसन्दर्भमें श्रीजीव गोस्वामीने भी कहा है—“ज्ञानमात्रा-त्मको न चेति । किं तर्हि ज्ञानमात्रत्वेऽपि ज्ञातृत्वं प्रकाशवस्तुनः प्रकाशमात्र-त्वेऽपि प्रकाशमानत्ववत्—सारार्थ, ज्ञान मात्रमें ही ज्ञातृत्व जाना जाता है ।”

जीवात्मा अणुचित् होनेके कारण उसका ज्ञान भी अवश्य स्वरूप है । जीव स्वल्पज्ञ है । किन्तु विभुचित् होनेके कारण ब्रह्म सर्वज्ञ है ।

जीवका कर्तृत्व है—

‘कर्ता शास्त्रार्थवत्तात् (२।३।३३)’—इस वेदान्त-सूत्रसे जाना जाता है कि जीवका कर्तृत्व है । गोविन्द भाष्य कहता है;—“जीव एव कर्ता न गुणाः । कुतः शास्त्रेति । स्वर्गकामो यजेतात्मानमेव लोकमुपासी-तेत्यादिशास्त्रस्य चेतनै कर्त्तरि सार्थक्यात् गुणकर्तृत्वेन तदनर्थकं स्यात् । शास्त्रं किल फलहेतुताबुद्धिमत्प्राद्य कर्मसु तत्फलभोक्तारं पुरुषं प्रवर्त्तयते ।

न च तद्बुद्धिर्जडानां गुणानां शक्योत्पादयितुम् । जीव ही कर्ता है, मायिक गुण कर्ता नहीं हैं । स्वर्गकी कामनावाला व्यक्ति यज्ञ करे—इत्यादि शास्त्रवाक्योंकी सार्थकता, चेतन कर्ता जीवमें ही देखी जाती है । गुणका कर्तृत्व स्वीकार करनेपर उक्त प्रकारके शास्त्रवाक्योंकी निरर्थकता हो जाती है; क्योंकि कर्म ही फलका हेतु है—इस प्रकारकी बुद्धि उत्पन्न करके फल-भोगाकांक्षी जीवको शास्त्र ही कर्ममें प्रवृत्त करता है । जड़मायाके जड़गुणसे इस प्रकारकी बुद्धिका उत्पादन सम्भव नहीं है । जीव ही शास्त्रार्थ बुद्धिसे कर्ता हो सकता है, जड़गुण नहीं ।” इसलिये जीव ही कर्ता है, मायिक गुण नहीं ।

यदि कोई प्रश्न करे कि जीव यदि वास्तविक कर्ता है, गुण या प्रकृति कर्ता नहीं है, तो श्रीगीतामें भगवान् श्रीकृष्णने क्यों कहा है— कि “प्रकृतिका गुण ही सब कर्म करता रहता है, भ्रमवश मायाबद्ध जीव अपनेको कर्ता मानता है” —

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्मानि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥१८॥

(गी० ३।२७)

इसके उत्तरमें श्रीपाद रामानुजाचार्य कहते हैं—‘उल्लिखित गीतोक्ति का तात्पर्य यह है कि सांसारिक कर्म करते समय मायामुग्ध जीव सत्व, रज या तम गुणोंसे ही प्रेरणा प्राप्त करता है।’

“‘कर्ता शास्त्रार्थवत्तात्’—वेदान्तसूत्रमें शुद्धजीवके स्वरूपानुबन्धि कर्तृत्वकी बात ही कही गयी है और उद्धृत गीता-श्लोकमें मायाबद्ध जीवकी बात वर्णित है । शुद्धजीव, अनादि-कर्मफल-वश जब प्राकृत जगत्के सुखभोगकी आशासे, प्राकृत जगत्की अधिष्ठात्री मायाके निवट आत्म-समर्पण करता है, तभी मायाके मुँहमें पड़ जाता है, मायिक गुणरागमें रञ्जित हो जाता है । भूतसे आविष्ट मनुष्य जो कुछ करता या कहता है, वह सब जैसे वास्तविक उसका अपना निजका कार्य या कथन नहीं होता, भूतका ही कार्य या कथन उस मनुष्यकी शक्तिका आश्रय करके प्रकाशित होता है, उसी प्रकार मायाके गुण-रागसे रञ्जित मायासे आविष्ट जीव भी जो कुछ करता है, वह वास्तवमें मायाकी या मायागुण की प्रेरणासे ही करता रहता है; किन्तु मायामुग्धताके वशीभूत जीव उसको समझ न सकनेके कारण मानता है कि वह अपने कर्तृत्वकी स्वाधीन

परिचालनासे ही सब कुछ कर रहा है। कर्तृत्व शक्ति तो अवश्य जीवकी ही है, किन्तु वह परिचालित होती है माया द्वारा। अतएव, उद्धृत गीता-श्लोकमें जीवके स्वरूपानुबन्धि-कर्तृत्वका निषेध नहीं होता।

परवर्ती “विहारोपदेशात् (२।३।३४), उपादानात् (२।३।३५) व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः (२।३।३६), उपलब्धवदनियमः (२।३।३७), शक्तिविपर्ययात् (२।३।३८), समाध्यभावाच्च (२।३।३९) एवं यथा च तक्षोभयथा (२।३।४०)— इन वेदान्त-सूत्रोंमें भी श्रीव्यासदेवने जीवके स्वरूपानुबन्धि कर्तृत्वको ही सुप्रतिष्ठित किया है।

जीवका कर्तृत्व परमेश्वर के आधीन है—

जीवका कर्तृत्व स्वाधीन नहीं है, परन्तु परमेश्वरके कर्तृत्वके आधीन है। एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्यो उन्नीनिषते एष ह्येवसाधुकर्म कारयति तं यमघो निनीषते ॥—परमेश्वर, जिसको इस लोकसे ऊँचे लोकमें ले जानेकी इच्छा करते हैं, उसके द्वारा साधु-कर्म कराते हैं एवं जिसको अधोगामी करनेकी इच्छा करते हैं, उसके द्वारा असाधु-कर्म कराते हैं। “अन्तः प्रविष्टः शास्ता ज्वानानां य आत्मनि तिष्ठन् आत्मानमन्तरो यमयति एष एव साधु कर्म कारयति—वही शास्ता परम-ईश्वर, जीवोंके अन्तर प्रविष्ट कर उनके द्वारा साधु-कर्म कराते रहते हैं”—इत्यादि श्रुतिवाक्यों द्वारा जाना जाता है कि जीवोंका कर्तृत्व परमेश्वरके आधीन है। इसीलिए ‘परात् तु तच्छ्रुतेः (२।३।४१)—इस वेदान्त सूत्रमें श्रीव्यासदेवने कहा है—श्रुतिवाक्य द्वारा जीवका कर्तृत्व परम-ईश्वर द्वारा प्रवर्तित कहा गया है।

प्रश्न उठ सकता है कि जीवका कर्तृत्व यदि परमेश्वरके आधीन है, तो फिर शास्त्रोक्त विधि-निषेधकी सार्थकता किस प्रकार रहती है? क्योंकि जो व्यक्ति अपनी इच्छाके अनुसार कोई भी कार्य करने या न करनेमें समर्थ है, उसीके लिए विधि-निषेध है। पूर्व सूत्रके उपलक्ष्यमें भी कहा गया है कि भगवान् जिसको ऊँचे लोकमें ले जाना चाहें, उसके द्वारा साधु-कार्य कराते हैं एवं जिसको अधोगामी करना चाहते हैं, उसके द्वारा असाधु-कर्म करवाते हैं। इससे क्या परमेश्वरकी पक्षपातता और निष्ठुरता प्रमाणित नहीं होती?—इस प्रश्नके उत्तरमें श्रीव्यासदेव परवर्ती सूत्रमें कहते हैं—

“कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः” (२।३।४२)— जीवकृत-धर्म-अधर्म-लक्षणके प्रयत्न अनुसार ही परमेश्वर, जीवके द्वारा कार्य कराते रहते हैं, अतएव, विधि-निषेधकी व्यर्थताकी बात नहीं उठती। कर्म और अकर्मकी पृथकतासे फलकी पृथकता है। इस फल-पृथकताके लिए परमेश्वर दायी नहीं हैं, दायी है जीव; क्योंकि, जीवके हृदयमें धर्मका या अधर्मका भाव विद्यमान है, एवं उसीके अनुसार उसका प्रयास होता है।

उस प्रयासके अनुसार ही ईश्वर, जीवके कर्तृत्वको प्रवर्तित करते हैं। श्रीपाद शंकराचार्य आदि प्रमुख भाष्यकारोंने मेघका दृष्टान्त देकर विषयको समझानेकी चेष्टा की है। भिन्न भिन्न बीजसे भिन्न भिन्न जातीय वृक्ष आदिकी उत्पत्ति होती है और उनके फूल, फल, स्वाद, गुण आदि सभी भिन्न भिन्न होते हैं। किन्तु केवल बीजके रहनेसे ही ये सब वृक्ष उत्पन्न नहीं हो सकते। उसके लिए प्रयोजन है वृष्टिका। मेघ, जल बरसाते हैं साधारणतया सभी जातिके बीज और वृक्षोंके ऊपर। भिन्न भिन्न जातीय बीज या वृक्षके लिए भिन्न भिन्न प्रकारकी वृष्टि नहीं होती। एक ही वृष्टिके जलसे भिन्न भिन्न जातीय वृक्ष एवं भिन्न भिन्न जातीय फूल-फल आदि उत्पन्न होते हैं। सब वृक्षोंकी एवं उनके फूल-फल आदिकी विभिन्नताका हेतु उनका बीज ही है, और केवल बीज होनेसे ही वृक्ष आदि उत्पन्न नहीं होते, वृष्टिकी अपेक्षा रहती है। वृष्टि होनेसे भी वृक्ष आदि उत्पन्न नहीं हो सकते, यदि बीज न रहे। उसी प्रकार पूर्व-पूर्व कर्मोंके फलसे मायाबद्ध जीवके चित्तमें जो कर्मकी वासना उत्पन्न होती है, उसी वासनाके अनुसार जीव जिन कर्मोंके लिए प्रयासी होता है, उन कर्मोंको करनेकी क्षमता मात्र परमेश्वर उसको देते हैं? जैसे मेघ जल दान करके बीजको अंकुरित और परिस्फुटित करते हैं। बीजके भीतर सूक्ष्म रूपसे वृक्ष, वृक्षके फूल-फल आदि हैं, वृष्टिके जलसे वे विकास प्राप्त करते हैं। उसी प्रकार जीवका प्रयास या प्रयासके भी मूलमें जो इच्छा है, उसके भीतर जीवके कर्म आदि सूक्ष्म रूपसे विद्यमान हैं। वही इच्छा, कार्य रूपमें विकास प्राप्त करती है केवल परमेश्वरकी शक्तिसे। जीव, काष्ठ-पत्थर-आदिकी तरह इच्छा-प्रयास-आदि-हीन वस्तु नहीं है, यदि ऐसा ही होता, तो फिर जीवके सभी कर्मोंके लिए परमेश्वर ही दायी होते। किन्तु

ऐसा नहीं है । 'यदि विधौ निषेधे च परेश एव काष्ठ-लोष्टतुल्यं जीवं नियु-
ज्यात् तर्हि तस्य वाक्यस्य प्रामाण्यं हीयेत ॥(गोविन्दभाष्य)'॥—ईश्वर द्वारा
प्रेरित होकर कर्म करनेके कारण, जीवका कोई भी कर्तृत्व नहीं है, सो
बात नहीं है । 'कर्त्तापि परप्रेरितः करोतीति कर्त्तृत्वं जीवस्य न निवार्यते॥
(गोविन्दभाष्य) ।' जीव है प्रयोज्य कर्त्ता और परमेश्वर हैं प्रयोजककर्त्ता ।
'तस्मात् स जीवः प्रयोज्यकर्त्ता परेशस्तु हेतुकर्त्ता—(गोविन्दभाष्य) ।'
जलके बिना जैसे बीज अंकुरित नहीं हो सकता, उसी प्रकार परमेश्वरकी
शक्ति बिना जीव कोई भी काम नहीं कर सकता । 'तदनुमतिमन्तरा
असौ कर्त्तुं न शक्नोति—(गोविन्दभाष्य) ।' काम करनेकी शक्ति देते हैं
परमेश्वर । उस शक्तिकी परिचालना द्वारा जीव अपनी इच्छाके अनुसार
काम करता है । इसीसे कर्मफलके लिए ईश्वर दायी नहीं होते ।
'स्वकर्मफलभुक् पुमान् ।"—जीव अपने किये ही कर्मों का फल भोगता
है ।

परमेश्वर, जीवके प्रयत्नकी या इच्छाकी अपेक्षा रखते हैं (कृतप्रय-
त्नापेक्षस्तु), विधि-निषेध-आदिकी अव्यर्थता ही (विहितप्रतिषिद्धावै-
यथ्यादिभ्यः) इसका प्रमाण है । परमेश्वरके कर्तृत्वसे (अर्थात् उनसे
शक्ति प्राप्त करके) जीव विधि-निषेधका पालन करता है, एवं उसीके
अनुसार फल प्राप्त करता है—विधिके पालन द्वारा विधिपालनका फल एवं
निषिद्ध कर्म करके निषिद्ध कर्मका फल प्राप्त करता है । व.भी भी परमेश्वर,
विधिपालनकर्त्ताको अर्थात् धर्मानुष्ठानकारीको अधर्मका फल नहीं देते एवं
अधर्मानुष्ठानकारीको धर्मका फल नहीं देते । यदि ऐसा ही करते तो फिर
विधि-निषेधकी व्यर्थता होती, किन्तु ऐसा नहीं है । वृष्टिके जलसे आमके
बीजसे वटवृक्ष उत्पन्न नहीं होता, तथा वटवृक्षके बीजसे कटहलका वृक्ष
नहीं होता । बीजके अनुरूप ही वृक्ष उत्पन्न होता है । वृक्षके विशेषत्वका
हेतु बीज है; वृष्टि नहीं, वृष्टि बीजको अंकुरित मात्र करती है । उसी
प्रकार जीवके कर्मोंकी विभिन्नताका हेतु है उसकी इच्छा या प्रयास ।
ईश्वरकी शक्ति, इच्छा-अनुगत-प्रयासमें जीवको प्रवर्तित मात्र करती है ।
ईश्वर-प्रवर्तित जीव, इच्छानुरूप भावसे अपने कर्तृत्वकी परिचालना करके
जो कर्म करता है, उसी कर्मका फल पाता है, अन्य प्रकारका फल नहीं
पाता । बड़े-बड़े नगरोंमें तारके योगसे विद्युत्शक्ति सर्वत्र ही प्रसारित

होती है। अपनी अपनी इच्छाके अनुसार उसके द्वारा कोई आलोक अर्थात् बल्ब जलाता है, कोई पंखा चलाता है, कोई जल उठाता है, कोई किसी प्रकार का यन्त्र चलाता है। जिनके घरमें विद्युत्की शक्ति द्वारा केवल बल्ब जलानेका प्रबन्ध है, अन्य कोई भी प्रबन्ध नहीं, उनके घरमें यह शक्ति केवल बल्ब ही जलाती है, पंखा या यन्त्र आदि नहीं चलाती। जीवके लिए ईश्वरकी शक्ति विद्युत्के समान है और उसके विभिन्न कर्म — बल्ब, पंखा चलाना आदि विद्युत्-शक्तिके विभिन्न कार्योंके समान हैं। सूत्रस्थ 'आदि' शब्दसे परमेश्वरका अनुग्रह और निग्रह सूचित होता है। साधुकर्ममें प्रवर्तन ही अनुग्रह है एवं असाधुकर्ममें प्रवर्तन ही निग्रह। इस अनुग्रह या निग्रहका मूल भी परमेश्वरकी इच्छा नहीं है—यह जीवकी इच्छा या प्रयत्न है। जीव जैसी इच्छा करता है या प्रयत्न करता है, वैसा ही कर्म करता है, कर्म करनेकी शक्ति मात्र परमेश्वरकी देन है। पर्वतसे नदीरूपमें जल आता है, जीव, उस जलका यथेच्छ भावसे व्यवहार करता है, उसी प्रकार सब शक्तियोंके मूल परमेश्वरसे जीवको शक्ति प्राप्त है, उस शक्तिको जीव अपने इच्छानुरूप व्यवहार करता है। व्यवहारका दायित्व एवं फल जीवका है, परमेश्वरका नहीं। नदीके जलसे कोई तृष्णा निवारण करता है, कोई आहार प्रस्तुत करता है, कोई स्वयं डूब मरता है और दूसरेको भी डुबा मारता है। इन सब कामोंका दायित्व नदी नहीं है, इन कार्योंका फल भी नदी नहीं भोगती।

परमेश्वर अन्तर्यामी रूपसे सभी जीवोंके चित्तमें विराजमान हैं। अन्तर्यामी रूपसे ही वे जीवको अपने-अपने प्रयत्नके या इच्छाके अनुरूप कार्यमें प्रवर्तित करते हैं। यही बात अर्जुनके प्रति भगवान् श्रीकृष्णने कही है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥१६॥

(श्री गी० १८।६१)

जीवमें अणु-स्वातन्त्र्य है—

उल्लिखित आलोचना द्वारा ज्ञात होता है कि ईश्वर प्रवर्तक कर्ता या प्रयोजक कर्ता है और जीव है प्रवर्तित कर्ता या प्रयोज्य कर्ता। जीवका

कर्तृत्व परमेश्वरके आधीन है। परमेश्वरकी शक्ति के बिना जीव अपने कर्तृत्वका विकास नहीं कर सकता। परमेश्वरकी शक्तिसे कर्तृत्व-विकास के फलसे जीवके जो कर्म अनुष्ठित होते हैं, उनका दायित्व जीवका ही है, ईश्वरका नहीं। फल-भोक्ता भी जीव ही है, ईश्वर नहीं। ईश्वर तो कर्म-फलका दाता मात्र है। जीवके दायित्वका हेतु यह है कि जीव अपनी इच्छाके अनुसार ही ईश्वर प्रदत्त शक्तिका व्यवहार करके कर्म करता है। जीव, भगवान्का चिद्-करण अंश है, भगवान् परम स्वतन्त्र हैं। अंशिका धर्म अंशमें भी कुछ रहता है। जैसा कि अति सामान्य होनेपर भी स्फुलिंगमें अग्निकी दाहिका-शक्ति रहती है, भगवान्के अंश स्वरूप जीवमें भी सामान्य-सा कुछ स्वातन्त्र्य है। भगवान् विभु हैं, उनकी स्वतन्त्रता भी विभु है। किन्तु जीव अणु है, जीवकी स्वतन्त्रता भी अणु है। जीव, भगवान् द्वारा नियन्त्रित होनेके कारण उसका अणु-स्वातन्त्र्य भी भगवान्के विभु-स्वातन्त्र्य द्वारा अवस्था विशेषमें नियन्त्रणके योग्य है। एक गायको यदि रस्सी द्वारा किसी खूँटेके साथ बांधकर रखा जाय, तो रस्सी जितनी दूर तक जायगी, उतनी दूर तक इच्छाके अनुसार गाय घूम फिर सकेगी, किन्तु रस्सीकी पहुँचके बाहर नहीं जा सकेगी। रस्सीकी सीमाके भीतर गायको चलने-फिरनेमें स्वतन्त्रता है। यह सीमाबद्ध स्वतन्त्रता है। जीवका अणु-स्वातन्त्र्य भी उसी प्रकार सीमाबद्ध है। जीवके अणु-स्वातन्त्र्यका विकास भी केवल उसकी अपनी इच्छा अनुसार है। जीव, कोई भी इच्छा हृदयमें पोषण कर सकता है—इतनी ही जीवकी स्वतन्त्रता है। किन्तु इच्छानुरूप कोई भी काम करनेकी शक्ति जीवकी नहीं हैं, उस प्रकारकी शक्ति भी परमेश्वरसे जीव नहीं पा सकता। ब्रह्माण्ड सृष्टि करने की इच्छा उत्पन्न होनेपर भी जीव वैसा कर नहीं सकता। इसी प्रकार अनेक स्थानोंमें जीवकी स्वतन्त्रताका अणुत्व सिद्ध होता है। 'स्व-कर्मफल-भुक् पुमान्' वाक्यसे ही जीवका अणु-स्वातन्त्र्य प्रमाणित होता है। कर्म करनेमें जीवकी स्वतन्त्र इच्छा न होती तो कर्मके लिए जीव दायी नहीं होता और उस कर्मका फल भी उसे भोगना न पड़ता। इस अणु-स्वातन्त्र्य होनेके कारण ही ईश्वर-प्रदत्त कर्म-शक्तिको जीव यथेच्छ भावसे व्यवहार करता है और यथेच्छ भावसे व्यवहार कर सकनेके कारण ही कर्मफलका दायित्व जीवका हो जाता है।

जीव श्रीकृष्णका भेदाभेद—प्रकाश है—

श्रुतिमें जीव और ब्रह्मके भेदवाचक वाक्य विद्यमान हैं, अभेदवाचक वाक्य भी । यहां तक कि एक ही श्रुतिमें भेदवाचक एवं अभेदवाचक वाक्य दोनों वर्तमान हैं । जैसे छान्दोग्य-उपनिषद्में—‘तत्त्वमसि श्वेतकेतो(६-८-७)’—‘हे श्वेतकेतो ! वही (ब्रह्म) तुम हो ।’—यह अभेदवाचक वाक्य है । भेदवाचक वाक्य भी छान्दोग्यमें मिलता है—‘सर्वं खल्विदं ब्रह्म । तज्जलानिति शान्त उपासीत् । (३-१४-१)’—‘सभी ब्रह्म हैं, क्योंकि उसीसे उत्पत्ति, उसीमें स्थिति और उसीमें लय है । शान्तचित्तसे उनकी उपासना करो ।’—इस श्रुतिवाक्यमें ब्रह्मकी उपासनाकी बात कही गई है । उपासना कहने से ही उपास्य एवं उपासक—ये दो समझे जाते हैं । ब्रह्म उपास्य है, जीव उसका उपासक है । अतः इस श्रुतिवाक्यमें जीव और ब्रह्मके भेदकी ही बात मिलती है । वृहदारण्यकमें भी भेद-वाचक एवं अभेद-वाचक दोनों प्रकार के वाक्य देखनेमें आते हैं । “अहं ब्रह्मास्मि—मैं ब्रह्म हूं”—यह वृहदारण्यकका अभेदवाचक वाक्य है । “य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मि इति—स इदं सर्वं भवति (वृ० आ० २-४-१०)—जो जानते हैं, मैं ब्रह्म हूं, वही सब कुछ है ।”—भेद-वाचक श्रुति इस प्रकार है । “स यथोर्णानाभिस्तन्तुनोच्चरेद् यथाग्नेः क्षुद्रा त्रिस्फुलिगा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति—(२-१-२०) जिस प्रकार उर्णानाभ तन्तु विस्तार करता है, जिस प्रकार अग्निसे क्षुद्र चिनगारियां निकलती हैं, उसी प्रकार आत्मासे सब प्राणी, सब लोक, सब देवता एवं सब भूत उत्पन्न हुए हैं ।” इस श्रुति ने भी जीव और ब्रह्मकी सम्पूर्ण भावसे एकरूपताकी बात नहीं कही । एक ही श्रुतिमें जब जीव और ब्रह्मके भेदवाचक एवं अभेदवाचक वाक्य देखनेमें आते हैं (एवं अन्यान्य बहुत-सी श्रुतियोंमें भी जब दोनों प्रकारके वाक्य दिखाई देते हैं), तब, जीव और ब्रह्मका सम्पूर्ण भावसे भेद है—यह कहते नहीं बनता, उनके बीच सम्पूर्ण भावसे अभेद है—यह भी नहीं कहा जा सकता । इसमेंसे कोई भी बात श्रुतिका अभिप्रेत नहीं है । यदि ऐसा होता तो परस्पर विरोधी बातें एक ही श्रुतिमें न होती ।

भेदवाचक वाक्य भी जैसे श्रुतिकी उक्ति हैं, अभेदवाचक वाक्य भी उसी प्रकार श्रुतिकी उक्ति हैं, एवं दोनों प्रकारके वाक्योंमें जीव और ब्रह्मके

सम्बन्धकी बातें कही गयी हैं । श्रुतिके वाक्य होनेके कारण दोनों प्रकारके वाक्य ही अपौरुषेय हैं, अतएव समान गुरुत्वपूर्ण हैं । इसीसे दोनों प्रकारके वाक्योंको समान गुरुत्व देकर उनमें समन्वय स्थापन करना होगा । वास्तवमें आपात दृष्टिसे परस्पर विरोधी श्रुति वाक्योंमें समन्वय स्थापनके उद्देश्यसे ही श्रीव्यासदेवने वेदान्त-सूत्रोंको संकलित किया है । इसीसे वेदान्त सूत्रोंका दूसरा नाम है उत्तर-मीमांसा । श्रीपाद शंकराचार्यने भेद-वाचक श्रुतिवाक्योंको 'ये व्यावहारिक हैं—पारमार्थिक नहीं हैं'—ऐसा कह कर उनकी उपेक्षा की है । अपनी इस प्रकारकी उक्तियोंके समर्थनमें उन्होंने किसी भी श्रुतिवाक्यका उल्लेख नहीं किया है । इस सम्बन्धमें स्थलविशेष पर उन्होंने जिन श्रुतिवाक्योंका उल्लेख किया है, वे अविस्वादिता अर्थात् निर्विवाद भावसे उनके मतका समर्थन नहीं करते; अपनी उक्तिके अनुकूल जो व्याख्या उन्होंने उन श्रुतिवाक्योंमें आरोपकी है, वह व्याख्या मात्र ही उनके अनुकूल जाती है, किन्तु उस व्याख्यामें श्रुतिका मुख्यार्थ प्रकाशित नहीं होता । मुख्यार्थ और प्रकारसे है । जब उन सब श्रुतियोंके मुख्यार्थमें असंगति भी नहीं दीखती तब (मुख्यार्थके संगति-स्थानमें) अन्य प्रकारका अर्थ शास्त्र द्वारा अनुमोदित नहीं है । भेदवाचक श्रुतिवाक्य व्यावहारिक हैं, पारमार्थिक नहीं हैं, यह श्रीपाद शंकरका व्यक्तिगत अभिमत मात्र है । इस मत के समर्थक कोई भी श्रुतिवाक्य नहीं हैं । इसीसे श्रुति प्रतिष्ठित विचारसे इस मत का कोई भी मूल्य नहीं हो सकता ।

इस आपात दृष्टिसे परस्पर विरोधी श्रुति-वाक्योंके समन्वयके लिए एक ही मार्ग है, वह यह है कि दोनोंको समान गुरुत्वपूर्ण मानना, दोनोंको ही पारमार्थिक तत्त्वनिर्णायक मानना । श्रीपाद शंकरने वैसा नहीं किया है, किन्तु श्रीमन्महाप्रभुने वैसा ही किया है । उन्होंने कहा है— "जीव और ब्रह्ममें भेद भी है, अभेद भी, ये दोनों सम्बन्ध ही समान रूपसे सत्य हैं ।" प्रकृत सम्बन्ध भेदाभेद-सम्बन्ध है । इसी लिए प्रभुने कहा है कि जीव है—

‘कृष्णोर तटस्था शक्ति भेदाभेदप्रकाश ॥’

(श्रीचै० च० २।१०।१०१) ।”

वेदान्त सूत्रकार श्रीव्यासदेवने भी भेदाभेद तत्त्वको स्थापन करके,

दोनों प्रकारके श्रुतिवाक्योंकी समान मर्यादा दी है, जैसा कि निम्नलिखित वेदान्तसूत्रों से स्पष्ट है:—

‘उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् (३।२।२७)—उभयव्यपदेशात् (जीव और ब्रह्ममें भेद एवं अभेद है, ऐसे दोनों प्रकारके उल्लेख होनेके कारण) अहिकुण्डलवत् (सर्प और उसके कुण्डलके अनुरूप कहे जा सकते हैं) । सर्प जब कुण्डली धारण किए रहता है, तब सर्प और कुण्डली, स्वरूपता: दोनों ही सर्प हैं । इस हिसाबसे उनमें अभेद है किन्तु सर्प एवं कुण्डली देखनेमें भिन्न हैं, इस हिसाबसे उनमें भेद है । इसी प्रकार ब्रह्म भी चिद्वस्तु है और जीव भी चिद्वस्तु है, चित्-अंशसे उनमें कोई भी भेद न होनेके कारण जीव और ब्रह्म अभेद कहे जाते हैं—‘चित्ताविशेषाच्च क्वचिदभेदनिर्देशः’ (परमात्मसन्दर्भ २१) । किन्तु ब्रह्म है विभु-चित् और जीव है अणु-चित् अर्थात् ब्रह्मका चित्-करण अंश, इस हिसाबसे उनके बीच भेद है । प्रज्ज्वलित अग्नि राशि एवं क्षुद्र स्फुलिंग, अग्नि हिसाबसे दोनोंमें अभेद है और परिमाण-आदिसे दोनोंमें भेद है । जीव और ब्रह्ममें भी उसी प्रकार भेद और अभेद है । इस सूत्रके भाष्यमें श्रीपाद शंकरने भी उपसंहारमें कहा है—“यथाहिरित्यभेदः कुण्डलाभोगमांशुत्वादीनि च भेद एवमिहापीति ।”

“प्रकाशाश्रवद्वा तेजस्तात् (३।२।२८)—सूर्य और सूर्यलोक, इन दोनोंमें जैसे भेद और अभेद है । उसी प्रकार जीव और ब्रह्मके बीच भी भेद एवं अभेद है ।

“अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके (२।३।४३)—जीव ब्रह्मका अंश है (अंश और अंशीमें स्वरूपतः अभेद है) ; नानाव्यपदेशात्—जीव और ब्रह्मके बीच नाना अर्थात् भेदका उल्लेख भी है । अन्यथा चापि—भेद अतिरिक्त अन्य रूप अर्थात् अभेदका उल्लेख भी है, जिस प्रकार दाशकितवादित्वम्—अथर्ववेदके ब्रह्मसूक्तमें ‘ब्रह्मदाशा ब्रह्मदासा ब्रह्म व इमे कितवाः’ वाक्यमें सभी मानवोंको ब्रह्म बताया गया है । अतएव जीव और ब्रह्ममें भेद भी है, अभेद भी है । इस सूत्रके भाष्यके उपसंहारमें श्रीपाद शंकरने कहा है—चैतन्यञ्चाविशिष्टं जीवेश्वरयोर्यथा-ऽग्निर्विस्फुलिगयोरौष्ण्यम् । अतो भेदाभेदावगमाभ्यामंशत्वावगमः—अग्नि एवं क्षुद्र स्फुलिगमें जैसे भेद भी है, और उष्णता-अंशसे अभेद भी है, उसी

प्रकार जीव एवं ब्रह्ममें भेद भी है, और चैतन्य अंशसे अभेद भी है। अतएव भेदाभेद दोनों ही विद्यमान रहनेके कारण जीव ब्रह्मका अंश है।

उक्त भाष्यमें श्रीपाद शंकरने भी स्वीकार किया है कि अंश और अंशीमें भेद एवं अभेद दोनों ही युगपत् वर्तमान हैं। जीव ब्रह्मका अंश हैं, यह पहले ही दिखाया जा चुका है। जीव ब्रह्मका अंश एवं ब्रह्म जीवका अंशी होनेसे दोनोंके बीच भेदाभेद सम्बन्ध ही संगत है।

ब्रह्म और जीव—दोनों ही चिद् वस्तु होनेके कारण दोनोंमें अभेद है। ब्रह्म विभु-चित् और जीव अणु-चित् है; ब्रह्म सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान है और जीव अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान है। ब्रह्म सृष्टिकर्ता है, जीव सृष्टिकर्ता नहीं है; ब्रह्म नियन्ता है और जीव उसके द्वारा नियन्त्रित है; ब्रह्म माया-तीत, मायाका अधीश्वर है, किन्तु जीव, माया द्वारा नियन्त्रित और कवलित होनेके योग्य है, (अणु होनेके कारण) ब्रह्म परमानन्दघन विग्रह है और जीव मायाबद्ध अवस्थामें अशेष दुःखोंका आकर है-इत्यादि कारणोंसे जीव और ब्रह्ममें भेद है। “अधिकं तु भेदनिर्देशात् (२।१।२२)— ब्रह्म, जीवसे भिन्न एवं अधिक है।”

“अधिकोपदेशात् (३।४।८)—ब्रह्म जीवसे अधिक है।”— इत्यादि वेदान्तसूत्रोंमें एवं “पृथक् आत्मानं प्रेरितारञ्च मत्वा (श्वेताश्वतर १।६)—ब्रह्म, जीवका प्रेरयिता या नियन्ता है, जीव ब्रह्म द्वारा नियन्त्रित है इसलिये दोनों को पृथक् समझना।”— इत्यादि श्रुतिवाक्योंमें भी जीव और ब्रह्मके भेदकी बात स्पष्ट उल्लिखित है।

इस प्रकार श्रुतिवाक्यके अनुसार जीव और ब्रह्मके बीच युगपत् नित्य भेद और अभेद सम्बन्ध रहनेसे उनके बीच भेदाभेद सम्बन्ध ही प्रतिष्ठित होता है—मृगमद कस्तूरी और उसकी गन्धमें, अग्नि और उसकी उष्णतामें जिस प्रकार भेदाभेद सम्बन्ध है, जीव और ब्रह्ममें—(साधारणतः शक्ति और शक्तिमानमें) भी—उसी प्रकार भेदाभेद सम्बन्ध है।

भेदवाचक श्रुतिवाक्योंकी उपेक्षा करते हुए अभेदवाचक श्रुतिवाक्यों को ही आधार बनाकर एवं भेदाभेद-तत्त्वप्रतिपादक श्रुतिवाक्योंकी मुख्या-वृत्तिसे अर्थसङ्गति रहनेपर भी गौणी या लक्षणावृत्तिसे अर्थ करके श्रीपाद-शंकरने जीव-ब्रह्मका सर्वभावसे अभेदत्व स्थापन किया है; अतः उनका सिद्धांत विचारपूर्ण नहीं है।

जीव स्वरूपतः श्रीकृष्णका नित्यदास है—

शक्तिमानकी सेवा करना ही शक्तिका कर्त्तव्य होता है । अंशीकी सेवा करना ही अंशका कर्त्तव्य है । मूल (जड़) शाखा पत्ते आदि वृक्षके अंश हैं, जड़, मृत्तिकासे रसका आकर्षण कर वृक्षकी पुष्टि करती है । शाखा-पत्र आदि भी धूप-वायुसे वृक्षके जीवन-धारणके लिए उपयोगी उपादान संग्रह करके पुष्टि-साधन एवं शोभावृद्धि करते हैं । मूल पत्ते आदि अंश इस प्रकार अंशी वृक्षकी सेवा करते हैं ।

जीव भगवान्की शक्ति एवं अंश है । अतएव भगवान्की सेवा ही जीवका स्वरूपानुबन्धि कर्त्तव्य है। अपने लिए किसी भी प्रकारका अनुसन्धान न रखकर—अपने इस कालके या पर-कालके सुख-सुविधा आदिकी बातको, यहां तक कि अपने दुःखकी निवृत्तिकी बातको भी मनमें स्थान न देकर—केवल मात्र सेव्यकी प्रीति-उत्पादन ही सेवाका तात्पर्य है । इस प्रकार केवल भगवत्-मुखैकतात्पर्यमयी सेवा ही जीवका स्वरूपानुबन्धि कर्त्तव्य है । सेवा है दासका धर्म । अतएव जीव स्वरूपतः श्रीकृष्णका दास ही है । “दासभूतो हरेरिव नान्यस्यैव कदाचन । अपि च स्मर्यते (२।३।४५—वेदान्त सूत्रके गोविन्दभाष्यमें उद्धृत स्मृतिवचन)—जीव एक मात्र श्रीहरिका ही दास है, कभी भी अन्य किसीका दास नहीं ।” श्रीमन्महाप्रभुने भी कहा है—

“कृष्णोर नित्यदास जीव” (श्रीचै० च० २।२।१७) ॥

जीवेर स्वरूप हय-कृष्णोर नित्यदास ।

कृष्णोर तटस्था शक्ति भेदाभेद प्रकाश ॥

(श्रीचै० च २।२०।१०१) ॥

प्राकृत ब्रह्माण्डमें जीवके आचरणकी एवं मनोवृत्तिकी विवेचना करने से भी ज्ञात होता है कि सेवाका भाव मानों जीवका मज्जागत है । सब समय में किसी दूसरेकी सेवा न करनेपर भी, यदि कभी कोई दूसरेकी किसी प्रकारकी सेवा करता है, तो वह आत्म-प्रसादका अनुभव करता है—समझता है कि मैंने एक अच्छा काम किया है । इसीसे समझा जाता है कि सेवाकार्य उसके हृदयकी वस्तु है । राजपुरुषोंमें, यहां तक कि राज्य-प्रतिनिधियोंमें भी देखनेमें आता है कि अति दीन-हीन एक साधारण प्रजाजनको पत्र आदि लिखने में, अपनेको, ‘आपका एकान्त अनुगत सेवक’ लिखते हैं । व्यक्तिगत भावसे वे कैसा भी व्यवहार क्यों न करें, सेवा भाव

ही उनका आदर्श है, यह बात 'आपका एकान्त अनुगत सेवक' इस वाक्य द्वारा प्रमाणित होती है। 'राजा' शब्दका अर्थ ही होता है—प्रजाका अनुरञ्जनकारी—प्रजाका प्रीतिविधानकारी।

इससे भी प्रजाकी सेवा ही राजाके कर्त्तव्य रूपसे निर्धारित होती है। गणतन्त्रमूलक राष्ट्रमें भी जन साधारणकी सेवा ही आदर्श है।

विचार करनेपर देखा जाता है कि ज्ञात भावसे हो चाहे अज्ञात भावसे जगत्के सभी जीव परस्परकी सेवा कर रहे हैं। कृषक धान्य उत्पन्न करता है, धनी अर्थ उपार्जन करता है। धनी व्यक्ति अर्थके बदले में किसानसे धान्य लेता है। एक दूसरे प्रयोजनमें यह लेन-देन होनेपर भी, उसके द्वारा परस्परका उपकार या सेवा ही होती है। सूकर-कूकर आदि पशु एवं गीध, कौवे आदि पक्षी प्राणी, मनुष्यके लिए विरक्तिजनक अस्वस्तिकर, स्वास्थ्य-हानिकारक वस्तुओंको ग्रहण करके मनुष्यकी सेवा करते रहते हैं। चिकित्सक रोगीकी सेवा करते हैं—औषध आदि द्वारा और रोगी भी चिकित्सककी सेवा करते हैं—अर्थ द्वारा।

प्रश्न हो सकता है कि यहाँपर जिन सेवाओंकी बात कही गई है, वे तो वास्तविक सेवा नहीं हैं, क्योंकि ये सब तथाकथित सेवाके कार्य कोई भी दूसरेके सुख-सम्पादनके उद्देश्यको लेकर नहीं करता, अपने प्रयोजन की सिद्धिके उद्देश्यसे ही करता है। उत्तरमें कहा जा सकता है—यह सत्य है कि सब कोई अपने प्रयोजन-सिद्धिके उद्देश्यसे काम करते हैं, किन्तु उससे अज्ञातभावसे ही दूसरोंका उपकार होता है, इसीसे समझा जाता है कि अपने प्रयोजनसिद्धिमूलक प्रयासमें सेवावासना प्रच्छन्न रहनेके कारण, इस प्रयासमें दूसरेका उपकार या सेवा ही होती रहती है। जीवस्वरूप मायाकवलित होकर मायिक देहमें एवं देहस्थित इन्द्रिय आदिमें आविष्ट हो रहा है। उसकी स्वरूपानुबन्धिनी सेवावासना देह-इन्द्रिय आदिके भीतरसे विकसित होकर, इन्द्रिय आदिके रंगमें रञ्जित होकर देह-इन्द्रियकी सेवाकी वासनामें रूपान्तरित हो गयी है। इसीसे जीवकी स्वार्थबुद्धि एवं इसीसे अपने प्रयोजनसिद्धिके लिये उसका प्रयास है। किन्तु इस प्रयासकी प्रवर्त्तिक सेवावासना ही है, यद्यपि मायामुग्ध जीव उस बातको नहीं जानता। जाने चाहे न जाने, सेवावासना उसका धर्म है, सामान्य मात्र आचरण

होनेपर भी उसका प्रकाश होता ही है, चाहे वह विकृत भावसे ही हो। वह सेवावासना जिस प्रकार देहधारी जीवके निकट प्रच्छन्न रहती है, सेवावासनाके स्वाभाविक धर्मका प्रकाश भी उसके निकट उसी प्रकार प्रच्छन्न रहता है। इसीसे देहधारी जीव समझता है कि उसने अपना प्रयोजन मात्र सिद्ध किया है, दूसरेकी सेवा नहीं की। किन्तु अज्ञातभावसे ही वह सेवा होती रहती है, इससे समझा जाता है कि सेवावासना जीवके लिए स्वाभाविक एवं स्वरूपगत है।

हम देहधारी जीव हैं दासत्व तो हम कर ही रहे हैं, मुख्यतः मायाका दासत्व; अतएव दासत्व हमारे स्वरूपका धर्म है, यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता। किन्तु स्वरूपतः हम किसके दास हैं ?

पहले ही बताया जा चुका है कि जीव है भगवान्की चिद्रूपा जीवशक्तिका अंश। यह जीव शक्ति जिस प्रकार अन्तरंगा स्वरूपशक्तिके अन्तर्भुक्त नहीं है, वैसे ही बहिरङ्गा मायाशक्तिके अन्तर्भुक्त भी नहीं है। अतएव, जीवस्वरूपके साथ मायाशक्तिका स्वाभाविक कोई भी योग नहीं है। जिस प्रकार अग्नितादात्म्य प्राप्त लोहेकी दाहिकाशक्ति आगन्तुक है, उसी प्रकार देहधारी जीवके लिए माया आगन्तुक वस्तु है, स्वरूपगत नहीं। अतएव, मायाका दासत्व जीवका स्वरूपगत दासत्व नहीं हो सकता। जब तक जीव, मायाके बन्धनमें रहेगा, तब तक उसके लिए मायाका दासत्व है। जिसके साथ जीवका स्वरूपगत स्वाभाविक सम्बन्ध है, उसके स्वरूपगत दासत्वका सम्पर्क भी उसके साथ है। मूल या शाखा-पत्तादिका जिस प्रकार वृक्षके साथ सम्बन्ध है, उसी प्रकार भगवान्का अंश होनेके कारण, जीवका नित्य अविच्छेद्य सम्बन्ध भगवान्के साथ है, और किसीके भी साथ उसका इस प्रकारका सम्बन्ध नहीं है। अतएव, जीव स्वरूपतः भगवान्का ही दास है, और किसीका नहीं। इसीसे कहा गया है—**“दासभूतो हरेरिव नान्यस्यैव कदाचन।”**

यहाँ प्रश्न उठता है—तत्वके विचारसे स्वीकार किया जा सकता है कि जीव स्वरूपतः भगवान्का दास है, किन्तु इस जगत्के देहधारी जीव हम सब तो भगवान्का दासत्व नहीं करते हैं, ऐसी अवस्थामें सभी जीवोंके लिए किस प्रकार कहा जा सकता है—‘कृष्णेन नित्यदास जीव’।

इसका उत्तर है कि दासत्व का प्राण है सेवा। सेवाका प्राण है

सेवावासना । सेवावासनाहीन सेवाका या इच्छाहीन बाध्यतामूलक सेवाका—कोई भी मूल्य नहीं होता । हम लोगोंकी सेवावासना स्वरूपगत है, नित्य है; अतएव हमारा दासत्व भी नित्य है । स्वरूपतः हम जब भगवान्‌के दास हैं और किसी के नहीं, तब केवलमात्र सेवावासनाके नित्यत्वसे ही हमारा नित्य-कृष्णदासत्व प्रतिपन्न—प्रमाणित होता है । हम श्रीकृष्णकी सेवा नहीं करते, यह सत्य है । किन्तु इससे हमारा कृष्ण-दासत्व अन्तर्हित नहीं होता । वृक्षका एक पत्ता जब वृक्षसे अलग हो जाता है, तब उस पत्तेके द्वारा वृक्षकी और सेवा नहीं चल सकती, फिर भी वह पत्ता उसी वृक्षका ही पत्ता रहता है ।

हमारी स्वाभाविक सेवावासना नित्य ही विकसित होती है । उसका लक्ष्य भगवान्‌ हैं, और कोई नहीं; क्योंकि और किसीके भी साथ हमारा नित्य सम्बन्ध नहीं है । नित्य विकसित होनेपर भी, विकासके पथमें मायाका आवरण पड़ा रहनेके कारण, वह लक्ष्य-स्थान पर पहुँच नहीं पाता । कोई भी पतिव्रता रमणी, दूरदेशस्थित पतिके उद्देश्यसे जाते हुए यदि पथ भूलकर अन्यत्र चली जाय, तो भी पतिके साथ उसका सम्बन्ध नष्ट नहीं होता ।

वस्तुतः अनजानमें जीव भगवान्‌का ही अनुसन्धान कर रहा है । जीवकी चिरन्तन सुखवासना उसका प्रमाण है । जीव जो कुछ भी करता है, वह सुखके निमित्त करता है । किन्तु संसारमें उसे जो कुछ सुख प्राप्त होता है, उससे उसकी चिरन्तन सुखवासनाकी तृप्ति नहीं होती । इसीसे समझा जाता है कि जीव जो सुख चाहता है, उसका स्वरूप नहीं जानता, अतएव उसकी प्राप्तिके उपायोंका अवलम्बन भी नहीं करता और उसको प्राप्त भी नहीं होता । वस्तुतः सुखस्वरूप, रसस्वरूप परतत्व वस्तुके लिए ही जीवकी चिरन्तन वासना है । उसको प्राप्त करते ही हमारी चिरन्तन सुखवासना चरम तृप्तिको प्राप्त कर सकती है । जैसा कि श्रुति कहती है—
 “रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति”—उस रस-स्वरूप को प्राप्त करके ही जीव आनन्दी होता है । रस स्वरूप परतत्व वस्तुके लिए अर्थात् श्रीकृष्णके लिए—जीवकी यह चिरन्तन वासना ही उसके नित्य कृष्णदासत्व भावकी परिचायक है, यद्यपि जीवको उसकी अनुभूति नहीं होती । अतः जीव स्वरूपतः श्रीकृष्णका नित्यदास ही है, श्रीकृष्ण सेव्य हैं, जीव उनका सेवक है ।

इस जगत्के दासत्वके सम्बन्धमें हमारी जो धारणा है, कृष्णदासत्व उस प्रकारका नहीं है। पूर्वकालमें पृथिवीपर किसी-किसी स्थानमें क्रीतदास की प्रथा प्रचलित थी। क्रीतदासकी दुर्दशाकी कोई सीमा नहीं थी। अनेक गृहस्थ अपने घरोंमें पाचक (रसोई बनाने वाला) भृत्य रखते हैं। उसकी अवस्था क्रीतदासकी तरह शोचनीय न होनेपर भी अधिक लोभनीय नहीं होती। इसका कारण यह है कि क्रीतदास या पाचक-भृत्य एवं उसके स्वामीके बीच केवल स्वार्थका सम्बन्ध होता है। दोनों अपनी सुख-सुविधा चाहते हैं। भृत्यके मनमें स्वामीका सुख प्रधान नहीं रहता, स्वामीके मनमें भी भृत्य आदिका सुख प्रधान नहीं रहता। इसीसे उनके सम्बन्ध सुखमय नहीं हो सकते। उनमें प्रीतिका बन्धन नहीं होता।

संसारमें कुछ प्रीतिका बन्धन भी है, जैसे पति पत्नी के बीच, माता और सन्तानके बीच। माता शिशु-सन्तानकी सेवा करती है—किसीके भी आदेशसे या अनुरोधसे नहीं, अपने प्राणोंके आकर्षणसे। पत्नी पतिकी सेवा करती है या पति पत्नीकी सेवा करता है, सुख-सुविधाका विधान करता है, प्रीतिके कारण। इसलिये इन सब सेवाओंमें सुख है, किन्तु इनमें भी निर्विच्छिन्न सुख नहीं है। क्योंकि, यहाँ भी प्रीतिके साथ स्वार्थ जुड़ा हुआ है। पति-पत्नीकी परस्पर सेवामें स्वसुख-वासना है। माताकी सन्तान-सेवामें भी कुछ अंश में स्वसुख-वासना है। उनके सम्बन्ध भी स्वरूपगत नहीं हैं, आगन्तुक मात्र हैं। जो दो व्यक्ति इस समय पति-पत्नीके सम्बन्धमें बंधे हैं, वे सामाजिक या शास्त्रीय विधि द्वारा ही किसी एक निर्दिष्ट समयमें परस्परके साथ युक्त हुए हैं। विवाहके पूर्व यह सम्बन्ध नहीं था, मृत्युके पीछे नहीं रहेगा। माता और सन्तानका जन्मके पहले यह सम्बन्ध नहीं रहता और परजन्ममें भी नहीं रहता। लौकिक जगत्के ये सब सम्बन्ध भी केवल शरीरके साथ हैं। पतिके साथ पत्नीका सम्बन्ध मुख्यतः देहका सम्बन्ध है। माताके साथ सन्तानका सम्बन्ध भी देहका सम्बन्ध है - माताके देहसे सन्तानकी देहका जन्म है। परस्परकी सेवाका सुख भी देहका एवं देहस्थित इन्द्रिय आदिका सुख है। इसीलिए जब किसी सेवा से शरीरके दुःखकी सम्भावना होती है, तब वह सेवा सुखकर नहीं रहती। देह अनित्य है, यह सुख भी अनित्य है।

किन्तु भगवान्के साथ जीवका सम्बन्ध है नित्य एवं अविच्छेद्य।

हम लोगोंके बीच उस सम्बन्धके ज्ञानका अभाव हो सकता है, किन्तु उससे सम्बन्ध नष्ट नहीं हो सकता। सन्तानका जिस समय जन्म होता है, उस समय पिता यदि विदेशमें रहे एवं कई वर्षोंके पश्चात् आकर सन्तानके सामने आए, तो पुत्र उसे पिता के रूपमें पहचान नहीं सकता, किन्तु पिता-पुत्रका सम्बन्ध अक्षुण्ण रहता है।

संसारी जीव हम लोग अनादिकालसे भगवान्को भूले हुए हैं। उनके साथ हमारा क्या सम्बन्ध है—यह हम नहीं जानते। भाग्यसे यदि हमारी यह अनादि भगवद्-विस्मृति दूर हो जाय, तो भगवान्के साथ हमारे सम्बन्धका ज्ञान अपने आप ही स्फुरित हो उठेगा—जैसे मेघनिर्मुक्त सूर्य। मेघ निर्मुक्त सूर्यके प्रकाशित होनेपर उसका किरणजाल भी जैसे स्वतः ही विकसित होता है, उसी तरह भगवान्के साथ जीवके सम्बन्धका ज्ञान स्फुरित होते ही उस सम्बन्धके स्वरूपगत कृष्णदासत्वका ज्ञान भी स्वतः ही स्फुरित हो उठेगा। तभी जीव भगवत्-सेवाके लिए लुब्ध होगा, उत्कण्ठित होगा—क्यों होगा, यह प्रश्न ही नहीं उठता। यह तो सम्बन्धका स्वाभाविक धर्म है—जैसे सूर्यके उदय होनेपर उसका किरणजाल भी स्वभावतः ही विकसित होता है। उस समय जीव भगवान्की स्वरूपशक्तिकी कृपा से भगवान्की सेवा प्राप्तकर धन्य होगा, और अपनेको परम कृतार्थ मानेगा।

इस सेवामें प्राकृत जगत्की सेवाकी तरह क्लान्ति अर्थात् थकावट नहीं होती, इसमें दुःखका मिश्रण नहीं है, है केवल स्वच्छ निरवच्छिन्न एवं क्रमशः वर्द्धमान आनन्द। यह प्रीतिकी सेवा है। जीव, यह सेवा करता है एकमात्र भगवान्के सुखके उद्देश्यसे। यह सेवा एकतरफी सेवा है। भक्त जीव (जो भगवत्-सेवा करते हैं, उन्हींको भक्त कहते हैं) जैसे सर्वदा भगवान्का सुख चाहते हैं, भगवान् भी सर्वदा भक्तका सुख चाहते हैं। इसीलिए भगवान्ने भी कहा है—

‘मद्भक्तानां विनोदार्थं करोमि विविधाः क्रियाः ।’

जिस प्रकार भक्त, भगवान्को अपने प्राणोंकी अपेक्षा भी प्रिय मानता है, भगवान् भी भक्तको उसी प्रकार प्रिय मानते हैं। जिस प्रकार भक्त, भगवान्के अतिरिक्त कुछ भी नहीं जानता, उसी तरह भगवान् भी

भक्तके सिवा और कुछ नहीं जानते । इसीलिए भगवान्ने स्वयं श्रीमुखसे कहा है—

साधवो हृदयं मह्यं साधुनां हृदयत्वहम् ।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ॥

(श्रीमद् भा० ६।४।६८)

उस सेवामें भगवान्के साथ भक्तका भाव होता है—नितान्त मदीयता-मय भाव । इस भावकी भगवत्-सेवामें अपरिसीम आनन्द है ।

निर्भेद ब्रह्मानुसन्धानके पश्चात् ज्ञान-मार्गके साधक अपने साधनकी सिद्धिसे निर्विशेष ब्रह्मके साथ सायुज्य मुक्ति प्राप्त करके ब्रह्मानन्द समुद्रमें निमग्न होते हैं । अनन्त कोटि प्राकृत ब्रह्माण्डकी समस्त सुखराशि इस ब्रह्मानन्दके एक कणिकाके तुल्य भी नहीं है । प्राकृत जगत्का आनन्द है प्राकृत सत्वगुणजनित, जड़, अनित्य, दुःखसंकुल एवं क्षुद्र; और ब्रह्मानन्द है अप्राकृत—मायातीत, चिन्मय, नित्य, दुःख-गन्ध-लेशशून्य एवं परिमाणमें विभु । किन्तु इसप्रकारका ब्रह्मानन्द भी श्रीकृष्णसेवासुखकी तुलनामें—समुद्रके सामने गोष्पद तुल्य है—

त्वत्साक्षात्करणह्लादविशुद्धाब्धिस्थितस्य मे ।
सुखानि गोष्पदायन्ते ब्राह्मण्यपि जगद्गुरो ॥

(हरिभक्तिसुखोदय)

इसका कारण यह है कि निर्विशेष ब्रह्ममें चिच्छक्तिका विकास नहीं है । इसलिये ब्रह्मानन्द है आनन्दसत्ता मात्र—वैचित्रीहीन आनन्द सत्ता । ब्रह्ममें आनन्दकी वैचित्री, आस्वादन-चमत्कारिता वैचित्री और रसका विकास नहीं है । किन्तु परब्रह्म श्रीकृष्णमें सम्पूर्ण शक्तियोंका पूर्णतम विकास होनेके कारण, उनमें आनन्द-वैचित्रीकी एवं आस्वादन-चमत्कारिताकी पूर्णतम अभिव्यक्ति है एवं रसकी भी पूर्णतम अभिव्यक्ति है । सेवाके उपलक्ष्यसे भक्तजीव अपूर्व आस्वादन-चमत्कारितामय इस सब आनन्द-वैचित्रीका और रसवैचित्रीका आस्वादन प्राप्त कर कृतार्थ होता है । इसके अतिरिक्त अखिलरसामृतवारिधि श्रीकृष्णचन्द्र स्वयं अपनी स्वाभाविक भक्तवात्सल्यतावश अनंत रसवैचित्रीका आस्वादन कराकर अपने भक्तवृन्दको सुखी करनेके लिए सर्वदा उत्कण्ठित रहते हैं । इस उत्कण्ठावश ही उनकी विविध लीलायें होती हैं, यथा:—

मद्भवतानां विनोदार्थं करोमि विविधाः क्रियाः ॥

लीलामें रसका उत्स प्रवाहित होता है और भक्त उसका आस्वादन करता है। यह वस्तु निर्विशेष ब्रह्ममें नहीं है, क्योंकि चिच्छक्तिके विकासके अभावमें निर्विशेष ब्रह्ममें न भक्तवत्सलताका विकास है, न रसका विकास, और न रसोत्सारिणी लीला का विकास है। ब्रह्मकी तरफसे मुक्तजीवको आनन्द आस्वादन करानेके लिए कोई चेष्टा नहीं होती। ब्रह्मानन्दके स्वरूपगत धर्मके कारण मुक्तजीव उसका आस्वादन पाते रहते हैं—वह भी केवल आनन्दसता सावका। इन सब कारणोंसे ही ब्रह्मानन्दकी अपेक्षा कृष्णसेवाके आनन्दकी सर्वातिशयता एवं परम लोभनीयता है।

सायुज्यमुक्तिप्राप्त जीवका श्रीकृष्णके साथ सम्बन्धका ज्ञान सम्यक् रूपसे स्फुरित नहीं हो सकता। उसके बीच इस सम्बन्ध विकासके प्रतिकूल एक भाव है, जो सम्बन्ध-विकासके लिए बाधा उत्पन्न करता है। साधनके आरम्भसे ही यह भाव उसमें विद्यमान रहता है और साधारणतया मुक्त अवस्थामें भी रहता है। यह भाव जीवका स्वरूपानुबन्धी भाव नहीं है, आगन्तुक है। वह भाव है—जीव-ब्रह्मका ऐक्य-ज्ञान। जब तक यह ऐक्य-ज्ञान वर्तमान रहेगा, तब तक जीवका स्वरूपानुबन्धी सेव्य-सेवक-भाव हृदयमें स्थान नहीं पा सकेगा। इसीसे सम्बन्ध-ज्ञानके सम्यक् विकासके पथमें बाधा प्राप्त होती है।

किन्तु साधन कालमें यदि किसी भी समय किसीको भी भक्तिवासना या भगवत्-सेवाकी वासना किसी भी भाग्यसे जाग्रत हो उठे, तो पूर्वमें न होनेपर भी, अन्तमें मुक्तावस्थामें भी वह वासना स्वातन्त्र्य अवलम्बन करके, मुक्तजीवके सम्बन्धज्ञान-विकासके प्रतिकूल भावको अपसारित करके, सम्बन्धके ज्ञानको सम्यक् रूपसे विकसित करती है एवं उस मुक्तजीवके चित्तमें भी श्रीकृष्णसेवावासना जगाकर उसके द्वारा श्रीकृष्णभजन कराती रहती है। यह बात श्रीपाद शंकराचार्य भी बता गये हैं—‘मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भगवन्तं भजन्ते (नृसिंहतापिनीका शंकरभाष्य)।’ श्रुतिने भी इस प्रकारके मुक्तजीवोंकी भगवत्-भजनकी बात बतायी है—‘मुक्ता अपि हि एनम् उपासत इति (सौपर्णाश्रुतिः)।’ वेदान्तने भी यह बात कही है—‘आप्रायणात् तत्रापि हि दृष्टम् (ब्र० सू० ४।१।१२)’।

प्रश्न हो सकता है कि मुक्तावस्थामें जो ब्रह्मानन्दमें निमग्न रहते हैं,

वे फिर किसलिये भगवान्की उपासना करेंगे ? इसका उत्तर है कि किसी उद्देश्य से परिचालित होकर वे भगवद्-भजन नहीं करते, मुक्तजीव भगवद्-भजन करते हैं भगवत्-सेवाके सर्वातिशायी आनन्दके लोभसे लुब्ध होकर । पित्तादग्ध व्यक्ति मिश्री खाता है एक प्रयोजनके लिए—पित्ता दूर करनेके प्रयोजनसे । किन्तु पित्ताका प्रकोप जब दूर हो जाता है, तब भी वह मिश्री खाना नहीं छोड़ सकता—मिश्रीके माधुर्यसे आकृष्ट होकर ।
मुक्तैरुपासनं न कार्यं विधिफलयोरभावात् । सत्यं तदा विध्यभावेऽपि सौन्दर्यबलादेव तत्प्रवर्त्तते । पित्तदग्धस्य सितया पित्तनाशेऽपि सति भूयस्तदा-स्वादवत् ॥ (वेदान्त सूत्र ४।१।१२ का गोविन्दभाष्य) । उल्लिखित श्रुति-वेदान्त वाक्यमें ब्रह्मानन्दसे कृष्णसेवाके आनन्दकी परम लोभनीयता सूचित होती है ।

श्रुतिने परतत्त्व वस्तुको आनन्द स्वरूप—रसस्वरूप अर्थात् परम मधुर, परम आस्वाद्य कहकर वर्णन किया है । इस रसस्वरूपकी प्राप्तिसे ही जीवकी चिरन्तन सुखवासना की चरम तृप्ति हो सकती है, अन्य किसी वस्तुसे नहीं । यही बात श्रुति भी कहती है—‘रसं ह्येवायं लब्धानन्दी भवति’—उसकी प्राप्तिसे ही अर्थात् उसके माधुर्यके आस्वादनसे ही जीव कृतार्थ हो सकता है—यही श्रुतिवाक्यका तात्पर्य है । किन्तु—

कृष्णसाम्ये नहे ताँर माधुर्यास्वादन ।

भवतभावे करे ताँर माधुर्यचव्वर्ण ॥

(श्रीचै० च० १-६-८६)

रसस्वरूपको आस्वादन करनेका एक मात्र उपाय है—भक्तभाव, सेवकका भाव । उनका माधुर्य ही इतना लोभनीय, इतना चित्ताकर्षक है कि अन्य लोगोंकी बात तो दूर रही—

“कोटि ब्रह्माण्ड परव्योम, ताहा जे स्वरूपगण, बले हरे ता सभार मन ।

पतिव्रता शिरोमणि, जारे कहे वेदवाणी, आकर्षये सेइ लक्ष्मीगण ॥”

(श्रीचै० च० २-२१-८८)

—कोटि ब्रह्माण्डपरव्योममें जितने भगवत् स्वरूपगण हैं, उन सबका मन भी बलपूर्वक हरण करता है, वहाँकी लक्ष्मीगणको भी, जिनको वेदवाणी पतिव्रता-शिरोमणि कहकर बखान करती है, आकर्षण करता है । यहाँ तक कि श्रीकृष्ण अपना माधुर्य देखकर स्वयं प्रलुब्ध हो उठते हैं—

‘आपनि आपना चाहे करिते आलिंगन’ ।

(श्रीचै० च० २-८-११४)

‘अपने आप को वे आलिंगन करना चाहते हैं।’ इस प्रकारका परम लोभनीय जो श्रीकृष्णमाधुर्य है, उसका आस्वादन सम्भव है केवल मात्र दास्यभावसे, भक्तभावसे । इसीसे इस दास्य भावके लिए सभी लालायित रहते हैं। यहाँ तक कि स्वयं श्रीकृष्ण भी अपना माधुर्य आस्वादन करनेके निमित्त भक्तभाव अङ्गीकार करते हैं ।

अन्येर आछुक कार्य आपने श्रीकृष्ण ।
आपन माधुर्यपाने हृइया सतृष्ण ॥
स्वमाधुर्य आस्वादिते करेन यतन ।
भक्तभाव विना नहे ताहा आस्वादन ॥
भक्तभाव अंगी करि हैला अवतीर्ण ।
श्रीकृष्णचैतन्यरूपे सर्वभावे पूर्ण ॥

(श्रीचै० च० १।६।६३-६५)

इसीलिये कहा है—

कृष्णेर समता हैते बड़ भक्तपद ।
आत्मा हइते कृष्णेर भक्त प्रेमास्पद ॥

(श्रीचै० च० १।६।८७)

इस प्रकारका भक्तभाव या दास्यभाव जीवका स्वरूपानुबन्धी भाव है । इस भावके आनुगत्यसे ही जीव एक अपूर्व अनिर्वचनीय श्रुतिप्रतिपादित परम लोभनीय वस्तुका आस्वादन पाकर कृतार्थ हो सकता है । प्राकृत जगत्के दास्यकी, जीवके स्वरूपानुबन्धी दास्यभावकी अति विकृत छायाके साथ भी तुलना नहीं हो सकती ।

जीवका स्वरूपानुबन्धी दासत्व, प्राकृत जगत्का नीरस दासत्व नहीं है । यह होता है—नितान्त निज-जन-बोधसे, परम-प्रियतम-ज्ञानसे अखिल रसामृतवारिधि स्वीय-भक्तजनोंके प्रीतिविधानलोलुप स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण-चन्द्रका प्रीतिपूर्ण मन-प्राणसे पूर्ण प्रीतिविधान प्रयास ।

नित्यमुक्त और बद्धजीव—

पहले बताया जा चुका है कि संख्यामें जीव अनन्त हैं । ये जीव दो श्रेणीके हैं । एक श्रेणी तो अनादिकालसे भगवत्-उन्मुख है और दूसरी

श्रेणी अनादिकालसे भगवत्-बहिर्मुख है। तदेवमनन्ता एव जीवाख्य तट-स्थाः शक्तयः । तत्र तासां वर्गद्वयम् । एकोवर्गः अनादित एव भगवदुन्मुखः अन्यस्तु अनादित एव भगवत्-परांगमुखः स्वभावतः तदीय ज्ञानभावात् तदीय ज्ञानाभावात् च (परमात्मसन्दर्भः ४४) । अनादिकालसे ही जिनको भगवद्ज्ञान (भगवत्-स्मृति) है, वे अनादिकालसे ही भगवत्-उन्मुख हैं, और अनादिकालसे ही जिनको भगवद्भाव (भगवत्-स्मृति) नहीं है वे अनादिकालसे ही भगवद्-बहिर्मुख हैं ।

जो लोग अनादिकालसे भगवद्-उन्मुख हैं, वे लोग अन्तरङ्गा स्वरूप-शक्तिके विलास-विशेषके द्वारा अनुगृहीत होकर अनादिकालसे नित्य भगवत्-परिकर-स्वरूप हैं । “तत्र प्रथमः अन्तरंगा-शक्तिविलासानुगृहीतः नित्य भगवत्परिकररूपः (परमात्मसन्दर्भ ४५) ।

और जो लोग अनादिकालसे भगवद्-बहिर्मुख हैं, वे लोग भगवद्-बहिर्मुखता वश माया द्वारा परिभूत होकर संसारी (सृष्ट ब्रह्माण्डसे माया-बद्ध जीव) हुए हैं । “अपरन्तु तत् परान्मुखत्वदोषेण लब्धच्छिद्रया मायाया परिभूतः संसारी (परमात्मसन्दर्भ ४५) ।”

यह बात श्रीमन् महाप्रभुने श्रीपाद सनातन गोस्वामीको कही है ।

सेइ विभिन्नांश जीव दुइत प्रकार ।
 एक नित्यमुक्त, एकेर नित्य संसार ॥
 नित्यमुक्त—नित्य कृष्णचरणो उन्मुख ।
 कृष्णपारिषद नाम—भुञ्जे सेवा सुख ॥
 नित्यबद्ध कृष्ण हृदते नित्य बहिर्मुख ।
 नित्य संसारी भुञ्जे नरकादि दुःख ॥
 सेइ दोषे माया पिशाची दण्ड करे तारे ।
 आध्यात्मिकादि तापये तारे जारि मारे ॥

(श्रीचं० च० २।२।५-११)

इन पयारोंमें ऊपर उद्धृत परमात्मसन्दर्भकी उक्तिका मर्म ही प्रकाशित किया गया है । अतएव परमात्मसन्दर्भकी उक्तिके आनुगत्यसे ही इन पयारोंका मर्म समझना होगा । पयारोक्त ‘नित्यसंसार’, ‘नित्यबद्ध’, ‘नित्यबहिर्मुख’, एवं ‘नित्यसंसारी’ वाक्योंके अन्तर्गत ‘नित्य’ शब्दका तात्पर्य होता है ‘अनादि’; अर्थात् ब्रह्माण्डव्यापी संसारी जीव अनादिकालसे

‘बद्ध, बहिर्मुख एवं संसारी’ है। इसी श्रेणीके जीवोंके सम्बन्धमें परमात्म-सन्दर्भने ‘अनादि’ शब्दका व्यवहार किया है। कविराज गोस्वामीने इस ‘अनादि’ अर्थमें ही ‘नित्य’ शब्दका व्यवहार किया है। ‘नित्य’ शब्दकी एक व्यञ्जना यह है कि जो सब जीव इस संसार में हैं, वे अनादिकालसे लेकर अब तक ‘नित्य अर्थात् निरविच्छन्न भावसे ही’ बहिर्मुख, संसारी एवं मायाबद्ध हैं। बीचमें उनमेंसे किसीने भी कभी भी श्रीकृष्णके समीप जाकर श्रीकृष्णसेवाका सौभाग्य प्राप्त नहीं किया। साधनके प्रभावसे और श्रीकृष्णकृपासे जो भगवद्धाममें एक बार प्रवेश करते हैं, उन्हें फिर संसार में लौटकर आना नहीं पड़ता। यह बात स्वयं श्रीकृष्णने अर्जुनके प्रति कही है:—

“यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ (श्री गी० १५।६)”

‘नित्य’ शब्दका साधारण अर्थ होता है—अनादि एवं अनन्त। उल्लिखित पयारोंमें ‘नित्य’ शब्दका यही साधारण अर्थ ग्रहण करनेसे समझा जाता है कि संसारी जीवका संसार या मायाबन्धन नित्य है, अर्थात् इसका अन्त या शेष नहीं है, किन्तु कविराज गोस्वामीका यह अभिप्रेत नहीं है, यह परवर्ती पयारसे ही ज्ञात होता है। श्रीमन्महाप्रभुकी उक्तिसे कविराज गोस्वामीने व्यक्त किया है—यह नित्यबद्ध, नित्य संसारी, एवं नित्य बहिर्मुख जीव—

“भ्रमिते भ्रमिते यदि साधु बंध पाय ॥
तार उपदेश-मन्त्रे पिशाची पालाय ।
कृष्णभक्ति पाय तबे कृष्ण निकट जाय” ॥

(श्री चै० च० २।२।१२-१३)

तात्पर्य यह है कि मायाबद्ध जीव भी महत्-कृपाके फलसे मायामुक्त होकर ‘कृष्ण निकट जाय’—पार्षद रूपसे श्री कृष्ण सेवा प्राप्त कर सकता है।

मायाबद्ध जीवकी कृष्णबहिर्मुखता अनादि है, किन्तु विनाशी है—दूर होनेके योग्य है; नहीं तो साधन—उपदेशकी सार्थकता नहीं रहती।

‘अनादिकालसे भगवद्-उन्मुख जीव’ के सम्बन्धमें परमात्मसन्दर्भमें कहा है—“अन्तरंगा—शक्ति विलासानुगृहीत नित्य-भगवत्-परिकर रूपः ।
—अन्तरङ्गा शक्तिके विलासविशेष द्वारा अनुगृहीत होकर जीव नित्य

भगवद्-पार्षदरूप में वर्तमान हैं।” जो लोग अनादिकालसे भगवद्-उन्मुख हैं, उन लोगोंको कभी भी मायाके मुखमें नहीं पड़ना पड़ता। अनादिकालसे जो लोग अन्तरङ्गा शक्तिके या स्वरूपशक्तिके विलासविशेष द्वारा अनुगृहीत हैं एवं इस प्रकार अनुगृहीत होनेके कारण ही अनादिकालसे वे लोग नित्य-भगवत्-परिकर रूपसे भगवान् की सेवाका सौभाग्य प्राप्त करते हैं। स्वरूपशक्ति द्वारा अनुगृहीत हुए बिना, स्वरूपतः श्री कृष्णका नित्यदास होनेपर भी परिकर रूपसे भगवत्-सेवाका सौभाग्य जीव को प्राप्त नहीं हो सकता—यही परमात्मसन्दर्भकी उक्तिसे सूचित होता है। उसका हेतु यह है कि जीवके स्वरूपमें अन्तरङ्गा शक्ति या स्वरूपशक्ति नहीं है एवं स्वरूपशक्ति ही भगवान्की सेवाके लिए अपरिहार्य है; कारण कि भगवान् होते हैं आत्माराम, स्वराट्स्वशक्त्येकसहाय। भक्ति या प्रेमके बिना भगवान्की सेवा नहीं हो सकती। भक्ति या प्रेम है स्वरूपशक्तिकी वृत्तिविशेष। इसीसे स्वरूपशक्तिकी इस वृत्तिविशेष की कृपा पाये बिना कोई भी भगवत्-सेवा या भगवत्-पार्षदत्व नहीं प्राप्त कर सकता।

किन्तु स्वरूपशक्तिहीन जीव इस स्वरूपशक्तिकी वृत्तिविशेषकी कृपा किस प्रकार प्राप्त कर सकता है ?—

श्रीकृष्ण अपनी ह्लादिनी-प्रधान स्वरूपशक्तिकी सर्व-आनन्द-अति-शायिनी वृत्तिविशेषको सर्वदा ही भक्तवृन्दके चित्तमें निक्षिप्त करते रहते हैं; वही भक्तके चित्तमें आकर भगवत्-प्रीतिके नाम से ख्यात होती है एवं भक्त और भगवान् दोनों के लिए ही परम आस्वाद्य बन जाती है। “तस्या ह्लादिन्या एव कापि सर्वानन्दातिशायिनी वृत्तिनित्यं भक्तवृन्देष्वेव निक्षिप्य-महता भगवत्-प्रीत्याख्यावर्तते। अतस्तदनुभवेन श्रीभगवानपि श्रीमद्भक्तेषु प्रीत्यतिशयं भजत इति, अतएव तत्सुखेन भक्तभगवतो परस्परं आवेशमाह। (प्रीतिसन्दर्भः ६५)” श्रीकृष्ण द्वारा निक्षिप्त स्वरूपशक्तिकी वृत्तिविशेष अनादिकालसे भगवद्-उन्मुख जीवके चित्तमें आकर, भगवत्-प्रेम रूपमें परिणत होकर, भगवत्-सेवामें परम उत्कृष्टता उत्पन्न करके, उसको भगवत्-सेवाके उपयुक्त बना देती है एवं पार्षदत्व दान करके उसको कृतार्थ कर देती है। इस प्रकार नित्यमुक्त जीव स्वरूपशक्ति द्वारा अनुगृहीत होता रहता है।

संसार बन्धनका हेतु—

नित्यमुक्त जीव अनादिकालसे ही स्वरूपशक्तिकी कृपासे पार्षद रूपसे श्रीकृष्णसेवा करता आ रहा है। उसे कभी भी मायिक संसारजालमें आबद्ध होना नहीं होता। और हम लोग अनादि कालसे ही मायिक संसार जालमें आबद्ध हैं, पार्षदरूपसे श्रीकृष्णसेवाका सौभाग्य हमारा कभी भी नहीं हुआ। स्वरूपशक्तिकी कृपा प्राप्त करनेका सौभाग्य भी हमको नहीं मिला। अनादिकालसे ही हम मायाके गुण-जालसे जड़ित होकर भी स्थावर देहमें, कभी जङ्गम देहमें विचरण कर रहे हैं।

प्रश्न हो सकता है कि इस संसारमें भी हम कुछ न कुछ तो सुखका उपभोग करते ही हैं, ह्लादिनी ही तो सुख दे सकती है और तो कोई दे नहीं सकता; ह्लादिनी हुई भगवान्की स्वरूपशक्ति; इस संसारमें भी जब हम सुख प्राप्तकर रहे हैं, तब हमारे प्रति ह्लादिनी या स्वरूपशक्तिकी कृपा नहीं है, यह कैसे कहा जा सकता है ?

उत्तर—इस संसारमें हम कुछ न कुछ सुख भोग करते हैं, यह सत्य है। किन्तु यह ह्लादिनी प्रदत्त सुख नहीं है। ह्लादिनी है चिच्छक्ति, चेतनामयी-शक्ति। ह्लादिनी-जात सुख भी चिन्मय सुख, नित्यसुख है। हमारे जड़ देहके साथ उसका योग नहीं हो सकता। चित्के साथ कभी भी जड़का स्पर्श नहीं हो सकता। जड़के साथ ही जड़का सम्बन्ध होता है। चित्के साथ चित्का सम्बन्ध होता है। जड़खाद्यद्रव्य जड़ देहका पुष्टिसाधन करता है, आत्माके धर्मको पुष्ट नहीं कर सकता। प्राकृत जगत् सुख जड़ देह का सुख है, अतः वह भी है जड़वस्तु-जात-अनित्य एवं जड़-चिद्-विरोधी। वह ह्लादिनी-जात नहीं है, प्राकृत सत्वगुण, जात है। सत्वगुण अनित्य जड़ सुख उत्पन्न कर सकता है, उसलिये इसका दूसरा नाम ह्लादकरी शक्ति है।

ह्लादिनी सन्धिनी संवित्त्वयेका सर्वसंस्थितौ ।

ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते ॥ ॥

(वि० पु० १।१२।६६)

इस श्लोककी टीकामें श्रीधर स्वामीपादने लिखा है—“ह्लादकरी मनप्रःसादोत्था सात्त्विकी ।” मायाकी यह सात्त्विकीशक्ति केवलमात्र मायाबद्ध जीवमें ही होती है, अतएव यही, जीवके लिए ह्लादकरी या जीवकी सुखोत्पादिका है।

श्रीगीता (१४-६) में यही बात कही गई है—

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम् ।

सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥ २३ ॥

हे अनघ (अर्जुन) ! माया के तीनों गुण के बीच सत्वगुण स्वच्छता, प्रकाशत्व एवं निरुपद्रवतावश सुख और ज्ञानके संग द्वारा जीवका बन्धन किए रहता है । ” इस श्लोककी टीकामें श्रीधरस्वामीपादने लिखा है—

अनामयं च निरुपद्रवम् । शान्तमित्यर्थः । अतः शान्तत्वात् स्वकार्येन सुखेन यः सङ्गस्तेन बध्नाति । प्रकाशकत्वाच्च स्वकार्येन ज्ञानेन यः सङ्गस्तेन च बध्नाति । ” इस टीकासे ज्ञात होता है कि सत्वगुणका कार्य ही सुख एवं ज्ञान है । श्रीपादशंकराचार्यने भी इस श्लोकके भाष्यमें लिखा है सुखसङ्गेन । सुख्यहमिति विषयभूतस्य सुखस्य विपर्याणि आत्मनि संश्लेषापादनेनैव । ममैव सुखं जातमिति मूषैव सुखेन सञ्जनमिति । सैषाऽविद्या ।अतोऽविद्ययैव स्वकीयधर्मभूतया विषयविद्यस्यविवेकलक्षणायाऽस्वात्मभूते सुखे सञ्जयतीव सक्तमिव करोति । ” इस भाष्यसे भी स्पष्ट है कि विषयसे ही सुख उत्पन्न होता है (विषयभूतस्य सुखस्य) एवं वह सुख है अविद्याका आत्मभूत अर्थात् अविद्या-जात । अतएव प्राकृत जगत्का सुख ह्लादिनी-जात नहीं है ।

किन्तु हम संसारी क्यों हुए? और नित्यमुक्त जीव नित्यमुक्त क्यों हुए? पूर्व उद्धृत परमात्मसन्दर्भके वाक्य द्वारा ही इसका उत्तर मिलता है । जो लोग अनादिकालसे भगवत्-उन्मुख हैं, अनादिकालसेही भगवत्-स्मृति जिनके चित्तमें जाग्रत है, वे नित्यमुक्त हैं । माया उनको ग्रास नहीं बना सकती, और जो अनादिकालसे ही भगवद्-बहिर्मुख हैं, अनादिकालसे ही जो भगवान्को भूले हुए हैं, वे ही माया-ग्रसित, संसारी हैं । वे हैं हम लोग ।

कृष्ण भूलि सेइ जीव अनादि बहिर्मुख ।

अतएव माया तारे देय संसार दुख ॥ ”

(श्रीचै०च० २।२०।१०४)

श्रीमद्भागवत (११-२-३७) भी कहती है —

“ भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यात् ईशादपेतस्य विपर्ययो स्मृतिः ॥ ”

— परमेश्वरसे विमुख जीवको स्वरूपकी विस्मृति होती है और इसलिये देह में आत्म-अभिमान उत्पन्न होता है ; द्वितीय वस्तु जो देहमें इन्द्रिय आदि हैं, उनमें अभिनिवेश होनेसे भय उत्पन्न होता है । ” अनादिकालसे भगवान्को

भूले रहने का तात्पर्य है — अनादिकालसे भगवत्-स्मृतिहीन होना ।

किन्तु हम अनादिकालसे ही भगवत्-स्मृतिहीन, भगवद्-बहिर्मुख क्यों हुए ? । इस 'क्यों' का कोई अर्थ नहीं है । अनादिसिद्ध वस्तुके सम्बन्धमें "क्यों" कहना नहीं बनता ।

मायाके शासमें क्यों और किस प्रकार पड़े ? जीवकी एक चिरन्तन सुखवासना है, यह सुखवासना जीवस्वरूपकी वासना है, यह बताया जा चुका है । जीव स्वरूपकी वासना होने के कारण यह नित्य है, अनादिकालसे वर्तमान है । अनादिकालसे ही हम सुखका अनुसन्धान कर रहे हैं । किन्तु सुखके मूल उत्सु सुख स्वरूप—आनन्दस्वरूप, रसस्वरूप—श्रीकृष्णको भूले हुए होनेके कारण, सुखके अनुसन्धान में उनकी बात मनमें जाग्रत नहीं हो पाती । उनको हमने पीठ दे रक्खी है, इसलिए उनकी ओर दृष्टि भी नहीं जा पाती ; उन्हें देखनेपर अन्ततः हम समझ सकते हैं कि हमारी चिरन्तन सुखवासनाकी चरम-तृप्ति उनसे ही हो सकती है । किन्तु हम उधर देखते ही नहीं । जिधर हमने मुख फेर रखा है उधर मायाने उनके प्राकृत ब्रह्माण्डके सुखभण्डारको उन्मुक्त कर रखा है । हमने मान लिया है कि ब्रह्माण्डमें ही हमारी सुखवासनाकी चरम तृप्ति हो सकती है । इसीसे हम संसारकी तरफ क्रुद पड़े हैं और संसारकी अधिष्ठात्री मायादेवीके चरणों में आत्म-समर्पण कर दिया है । हमने ही मायाके चरणोंमें "आत्मसमर्पण" किया है, मायाके चरणोंका आलिङ्गन किया है, मायाने हमको जबरदस्ती नहीं खींचा । श्रीमद्भागवतमें यही कहा गया है—

“स यदजयात्त्वजामनुशयीत गुणांश्च जुषत्,
भजति सरूपतां तदनु मृत्युमपेतभगः ॥ २४ ॥

(१०।८७।३८)

—वही जीव जब मुग्ध होकर मायाको आलिङ्गन करता है, तब देह-इन्द्रिय आदिकी सेवा करता हुआ, उसके धर्मयुक्त होकर, स्वरूप विस्मृत होकर जन्ममरण रूप संसारको प्राप्त होता है। "अजामविद्याम अनुशयीत आलिङ्गते स्वामी"—माया भी उस जीवको अङ्गीकार कर लेती है ।

परः स्वश्चेत्यसद्ग्राहः पुंसां यन्मायया कृतः ।

विमोहितधियां दृष्टस्तस्मै भगवते नमः ॥ २५ ॥

(श्रीमद् भागवत ७।५।११)

इस श्लोककी क्रमसन्दर्भ-टीकामें श्री जीव गोस्वामीने लिखा है — "परः

इति पसां भयं द्वितीयाभिनवेशतः स्यादित्यादिरोत्यानादित एव भगवद्-
विमुखानां जीवानां अतएव नूनं सैर्षया यस्य भगवतो मायया मोहितधियां
स्वरूपविस्मरणपूर्वकदेहात्मबुद्ध्या विशेषेण मोहितबुद्धीनां असतां यन्मायैव
परः परकोयोऽर्थः । ” ”

इससे जाना जाता है कि मायाने मानो जीवोंको “ ईर्ष्याके सहित ” अङ्गीकार
कर उन्हें स्वरूपको विस्मृति करा दी है एवं देहमें आत्मबुद्धि उत्पन्न कर दी
है । “ ईर्ष्याके सहित ” वाक्यका भाव इस प्रकार है — कि “ जहाँ सुखका स्रोत
है, वहाँ सुखको न खोजकर तुम मेरे इस नश्वर ब्रह्माण्डमें सुख खोजने आये
हो ? — जहाँ सुख नामकी कोई भी वस्तु नहीं है, जो है वह भी अनित्य, जड़,
दुखसङ्गुल है, अच्छा आओ और यहाँके सुखका मजा देखो । ” इस प्रकार
मनमें सोचकर ही मानो मायादेवीने अपनी आवरणात्मिका वृत्ति द्वारा
बहिर्मुख जीवके स्वरूपज्ञानको सम्यक् प्रकारसे ढक दिया है एवं विक्षेपात्मिका
वृत्ति द्वारा उसके चित्तको मायिक ब्रह्माण्डमें एवं उसके देह-इन्द्रिय आदि
में विक्षिप्त कर दिया है — जिससे जीव अन्य सब कुछ भूलकर इस प्राकृत
जगत्के सुखभोगमें तन्मय होकर रह सके । इस प्रकार माया द्वारा अङ्गीकृत
होकर सृष्टिके समय जीव एक मायिक देह प्राप्त करता है और— अपने
अभीष्ट सुखभोगके उपयुक्त उस देहमें प्रवेश करता है। (जीव अपने कर्मफलके
अनुसार ही उन कर्मफलोंके भोगकेलिए उपयोगी देह प्राप्त करता है । शास्त्र-
कारोंने कर्मको भी अनादि कहा है । उस अनादि कर्मफल के भोगके लिए उप-
योगी देह ही जीव अनादिकालसे प्राप्त करता चला आ रहा है। उन कर्मफलों
को भोगते-भोगते जीव नये-नये कर्म करके, परवर्ती कालमें भोगके उपयोगी
नये-नये देह प्राप्त करता रहता है)। अपने स्वरूपका ज्ञान होनेके कारण उसने
ऐसा मान लिया है कि यह देह ही मैं हूँ—यही देहात्म-बुद्धि है। देहकी इन्द्रियों
को मान लिया कि ये सब इन्द्रियाँ मेरी ही हैं । इसीसे इन्द्रियोंके सुखको
अपना सुख मानकर, प्राकृत जगत्में भोग वस्तु खोजते खोजते जीव परेशान हो
जाता है । जीवों की यह परेशानी अभी तक शेष नहीं हुई । यही प्राकृत
जगत्के सुख का “ मजा ” है ।

प्रश्न हो सकता है कि हम श्रीकृष्णको क्यों भूल गये ? हम अनादि-
कालसे बहिर्मुख क्यों हैं ?—उत्तरमें कहा जा सकता है कि अणु-स्वातन्त्र्यके
अपव्यवहारसे ही हम अनादि-बहिर्मुख हैं और अनादिकालसे कृष्ण स्मृतिहीन
हैं ।

और भी प्रश्न हो सकता है -- जीव चिद्रूपा शक्ति है, चिद्-विरोधी मायाशक्ति किस प्रकार उसको मोहित कर, उसके स्वरूपज्ञानको ढक सकती है? जीवके स्वरूपानुबन्धी ज्ञानको अज्ञानरूपा माया किस प्रकार ढक सकती है?

इसका उत्तर श्रीजीवगोस्वामीने अपने भगवत्-सन्दर्भमें दिया है।
 “विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथापरा” इत्यादि

(वि०पु०६।७।६१)

श्लोककी टीकामें उन्होंने लिखा है -- “ यद्यपीयं बहिरङ्गा, तथाप्यस्या स्तत्स्थशक्तिमयमपि जीवमावरयितुं सामर्थ्यमस्तीति । -- बहिरङ्गा होने पर भी इस मायाकी तटस्था शक्तिमय जीवको आवरण करनेकी सामर्थ्य है।” ऊपर उद्धृत “स यदजया त्वजामनुशयीत” इत्यादि(भा०१०।८७।३८) श्लोककी टीकामें श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्तीने प्रश्न उठाया है कि चिदंशसे जीव और ब्रह्ममें जब भेद नहीं है, तब मायाशक्ति जीवको किस प्रकार ग्रस बना लेती है, और ब्रह्मको क्यों नहीं? फिर इस प्रश्नका उन्होंने समाधान इस प्रकार किया है कि जीव चित्-कण (अतिक्षुद्र) होनेके कारण माया उसको ग्रस सकती है और ब्रह्मके चित्-महापुञ्ज होनेके कारण उसको ग्रस नहीं सकती - - जिस प्रकार अन्धकार ताम्बा, पीतल, सोना आदि के तेजको ही ढक सकता है, किन्तु सूर्यके तेजको आवृत नहीं कर सकता। “ननु चिद्रूपविशेषादहमपि कथमविद्यया आलिङ्गितो न भवेयमिति चेत् मेवं जीवः खलु चित्-कणः, तन्तु चिन्महापुञ्जः । ताम्रपित्तलस्वर्णादि-तेज एव तमसा आवृतं भवेन्नतु सूर्यतेज इत्याहुः।”

चक्रवर्तीपादका कहना है कि जीव के चित्-कण होने के कारण माया उसको ग्रस सकती है। इससे समझा गया कि तटस्थाशक्तिमय जीवका चित्-कणत्व ही माया द्वारा उसके ग्रसित होनेमें हेतु है, जिससे माया उसे आवृत कर लेती है; और श्रीजीवकी उक्ति की अर्थात् तटस्थाशक्तिमय जीवको आवृत करने की मायामें सामर्थ्य है--इस उक्तिकी व्यञ्जना यह है कि जीवके चिद्रूपा तटस्थाशक्ति होनेके कारण माया उसको ग्रसनेमें समर्थ है। इस उक्ति के साथ चक्रवर्तीपादकी उक्तिका योग करनेपर जो तात्पर्य निकलता है, वह यह है कि जीव, विद्रूपा तटस्थाशक्तिका कणारूप होनेके कारण माया उसको ग्रस सकती है।

अब प्रश्न यह उठता है कि जो नित्यमुक्त जीव हैं, वे भी तो तटस्था-शक्तिमय एवं चित्-कण हैं। यदि तटस्थाशक्तिमय होने के कारण ही जीव

को ग्रसनेमें माया समर्थ है (जैसा कि श्री जीव बताते हैं) एवं चित्-करण होनेके कारण ही यदि जीवको आवृत्ति करनेमें माया सामर्थ्य रखती है (जैसा कि श्रीचक्रवर्तीपाद कहते हैं) तो नित्यमुक्त जीवको ग्रसनेमें माया समर्थ क्यों नहीं होती ?

इस प्रश्नके उत्तर के लिए यह देखना होगा कि नित्यमुक्त जीवमें ऐसी कोई विशेष वस्तु तो नहीं है जो अनादि बहिर्मुख जीवमें न हो। श्रीजीव कहते हैं -- है; नित्यमुक्त जीव स्वरूपशक्ति द्वारा अनुग्रहीत है, अनादि-बहिर्मुख जीवमें स्वरूपशक्तिके इस अनुग्रहका अभाव है। यह पार्थक्य ही माया के सामर्थ्यप्रकाशके पार्थक्यमें हेतु है। नित्यमुक्त एवं अनादि-बहिर्मुख -- दोनों प्रकारके जीव ही चिद्रूपा-तटस्थाशक्तिके चित्-करण अंश हैं। नित्यमुक्त जीवमें स्वरूपशक्तिका अनुग्रह होने के कारण (स्वरूपशक्तिके साथ तादात्म्य प्राप्त होनेके कारण) माया उसको स्पर्श नहीं कर सकती, किन्तु अनादि बहिर्मुख जीवमें स्वरूपशक्तिका अनुग्रह न होने के कारण माया उसको ग्रस सकती है। “अपरन्तु तमराङ्ग मुखत्वदोषेण लब्धच्छिद्रया मायया परिभूतः संसारी।” -- परमात्मसन्दर्भके (४५) इस वाक्यमें श्रीजीवने यही प्रकाश किया है।

मायाके जीव-मोहन-सामर्थ्यकी बात कहने पर श्रीजीवने जीवको “तटस्थाशक्तिमय” बताया है, उसकी व्यञ्जना यह होती है कि जीव केवल तटस्थाशक्ति ही है, (प्राचुर्यार्थमें मयट्), स्वरूपशक्ति नहीं।

माया, श्रीकृष्णको या श्रीकृष्णके स्वांश किसी भी भगवत्-स्वरूपको मोहित नहीं कर सकती, यहाँ तक कि उनके निकट भी नहीं जा सकती; इसका कारण भी स्वरूपशक्ति है। श्रीकृष्णमें या भगवत्-स्वरूपमें स्वरूप-शक्ति होनेके कारण ही मायाको दूर रहना पड़ता है। श्रीमद्भागवतमें अनेक स्थानोंमें इसका प्रमाण मिलता है। प्रारम्भ के श्लोकमें ही देखनेमें आता है —

“धात्मना स्वेन सदा निरस्त कुहकं सत्यं परं धीमहि।”

यहाँ “धात्मना” शब्दका अर्थ श्रीचक्रवर्तीपादने लिखा है -- “स्वरूपशक्त्या” इस अर्थमें “धात्मना स्वेन निरस्तकुहकम्” वाक्यका तात्पर्य यह है कि सत्यस्वरूप भगवान् अपनी स्वरूपशक्तिके प्रभावसे कुहक (माया) को निरस्त (दूर-अप-सारित) किये रखते हैं। दशम स्कन्धके ३७ वें अध्यायके २२ वें श्लोकमें भी नारदजी ने श्रीकृष्ण के प्रति कहा है -- स्वतेजसा नित्यनिवृत्तमायागुण-

प्रभावम् यहाँपर “स्वतेजसा” शब्दका अर्थ श्रीधरस्वामीपादने लिखा है - - “चिच्छक्त्या” एवं श्रीपादसनातन गोस्वामीने लिखा है - - “स्वरूपशक्तिप्रभावेन” । तब उल्लिखित “स्वतेजसा” इत्यादि वाक्यका अर्थ है - - श्रीकृष्णकी स्वरूपशक्तिके प्रभावसे मायाका गुणप्रवाह उनसे नित्य दूर रहता है । विशेषतः—

त्वमाद्यः पुरुषः साक्षादीश्वरः प्रकृते परः ।

मायां व्युदस्य चिच्छक्त्या कैवल्ये स्थित आत्मनि ॥ २६ ॥

(श्री०भा०१।७।२३)

— श्रीकृष्णके प्रति अर्जुनकी इस उक्तिसे जाना जाता है कि स्वरूपशक्तिके प्रभावसे ही श्रीकृष्णसे माया दूर रहती है । मायाने भगवान्पर आक्रमण किया हो एवं आक्रमण करनेके पश्चात् ही भगवान्ने अपनी स्वरूपशक्तिके प्रभावसे मायाको विताडित कर दिया हो, ऐसी बात नहीं । आक्रमण करना तो दूर रहा - - - - “ विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेऽमुया ” इत्यादि (श्री०भा० २।५।१३) श्लोकके प्रमाणसे जाना जाता है कि माया भगवान् के दृष्टिपथ में आने में ही लज्जा करती है, इसी लिये उनसे दूर दूर अर्थात् भगवान् के लीला-स्थल आदि के बाहर ही रहती है । माया की इस लज्जा का, या इस प्रकार दूर रहने का कारण है—स्वरूपशक्तिका प्रभाव। भगवान् में स्वरूपशक्ति होनेके कारण माया उनके पास भटक भी नहीं सकती, स्वरूपशक्तिका अस्तित्व ही मायाको दूर रहनेको बाध्य करता है, यही “धारुता स्वेन निरस्तकुहकम्” वाक्यका तात्पर्य है ।

स्वरूपतः विभु श्रीभगवान्को इस स्वरूपशक्ति ने ही शक्तिमें या प्रभाव में विभु बनाया है । स्वरूपसे अणु नित्यमुक्त जीवको भी प्रभावमें महान बनाया है इस स्वरूपशक्तिने ही । क्योंकि, स्वरूपशक्ति या पराशक्ति स्वयं ही विभु है । “परास्य शक्तिरित्यादौ स्वभाविकीति परमात्माभेदाभिधानात् परा विभ्वी सैव हीति ॥ कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ॥ (वेदान्तसूत्र ३।३।४० का गोविन्दभाष्य) । किन्तु स्वरूपसे अणु अनादि-बहिर्मुख जीव स्वरूपशक्तिकी कृपा प्राप्त न होनेके कारण प्रभावमें भी अणु ही है। इसीलिए माया उसको ग्रस करनेमें समर्थ है। सम्भवतः, स्वरूपशक्ति के अभाव जनित इस प्रभावके अणुत्वके प्रति लक्ष्य रखकर ही चक्रवर्तीपाद ने कहा है—जीवके चित्-करण होनेके कारण ही मायाने उसको ग्रस रखा है ।

सार बात यही है कि अनादिकालसे हमलोग स्वरूपशक्तिकी कृपासे वञ्चित होनेके कारण, कृष्ण-बहिर्मुख हैं एवं बहिर्मुखतावश ही अनादिकालसे मायाबद्ध हैं ।

और भी मूल बात अनुसन्धान करने पर समझमें आता है कि अनादिकालसे ही हम भगवान्को भूले हुए हैं। कभी भी उनकी कथा, उनके अस्तित्वकी बात, उनकी आनन्द स्वरूपताकी या सुखस्वरूपताकी बात हमारे मनमें नहीं आती । हमारी यह भगवत्-विस्मृति अनादिसिद्ध अथवा अनादि-कर्मोंका फल है । तो भी आनन्दस्वरूपके साथ हमारा नित्य अच्छेद्य सम्बन्ध होनेसे, हममें एक स्वाभाविक चिरन्तन सुखवासना हैं । यह सुख-वासना चरम तृप्ति प्राप्त कर सकती है एकमात्र उस आनन्द स्वरूप या रसस्वरूप भगवान्में । उनको भूले हुए होनेके कारण हम उस बातको समझ नहीं पाते । भगवान्की बहिरङ्गा मायाशक्तिने प्राकृत ब्रह्माण्डके सुख-सम्भारोंको सजाकर रख छोड़ा है । उसी ओर ही हमारी दृष्टि है एवं वही सुखसम्भार हमारी चिरन्तन सुख-वासनाकी चरम तृप्ति साधन कर सकेंगे—ऐसी हमारी भ्रान्त धारणा बन गयी है, इसीसे हम मानों माया की ओर मुखकरके खड़े हैं, यही हमारी अनादि-बहिर्मुखता है, जिसका मूल है अनादि भगवत्-विस्मृति । भगवान्को भूलनेसे उनकी स्वरूपशक्तिकी कृपासे भी वञ्चित हो गये हैं । क्योंकि, स्वरूपशक्ति सर्वदा भगवान्के स्वरूपमें अवस्थित रहनेके कारण, भगवद्-उन्मुख जीवके प्रति ही कृपा करती है ।

माया-बन्धन नष्ट करनेका उपाय—

हमारा यह माया-बन्धन स्वरूपानुबन्धी नहीं है, आगन्तुक है ; अतएव यह दूर हो सकता है, जैसे स्वच्छ वस्त्रकी आगन्तुक मलिनता दूर हो सकती है ।

मायाबन्धन कैसे दूर हो सकता है? मायाबन्धनका जो हेतु है, वह दूर होते ही यह बन्धन नष्ट हो सकता है । पहले बताया जा चुका है कि माया-बन्धनका हेतु है—भगवद्-बहिर्मुखता, और उसका भी हेतु है—भगवद्-विस्मृति । इस विस्मृतिको दूर कर सकनेपर भगवद्-बहिर्मुखता एवं तत्-जनित माया-बन्धन भी दूर हो सकता है ।

किन्तु विस्मृतिको कैसे दूर किया जाय ? विस्मृति है स्मृतिका अभाव जैसे अन्धकार है प्रकाशका अभाव । विस्मृतिको दूर करना होगा स्मृतिद्वारा जैसे अन्धकार को प्रकाश द्वारा दूर किया जाता है । इसीसे कहा गया है—

“स्मर्तव्यं सततं विष्णु विस्मर्तव्यो न जातुचित् ।

सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किङ्किराः ॥ २७ ॥

(पादमोत्तर खण्ड ७२।१००), भक्तिरसामृतसिन्धुः (१।२।५)

—सर्वदा विष्णुका स्मरण करो । कभी भी उनको न भूलो । जितने विधि और निषेध हैं, वे सभी इन दो विधि-निषेधोंके किङ्कर हैं । ”

किन्तु चेष्टा करके भी तो हम भगवत्-स्मृतिको हृदयमें स्थायी नहीं कर पाते । भगवत्-स्मरणमें मनको लगाना चाहने पर भी मन भाग-भागकर इन्द्रिय-भोग्य विषयोंमें जा उपस्थित होता है । मन कब भाग खड़ा होता है, इसका भी पता नहीं लगता । इसका क्या कारण है ?

इसका कारण यह है कि मायाने हमारा मन विक्षिप्त कर डाला है । विषयसे मनको खींचकर लाना चाहने पर भी हम बैसा नहीं कर सकते । क्योंकि माया ईश्वरकी शक्ति महापराक्रमशालिनी है ; और हम हैं क्षुद्रशक्ति-जीव । मायाको हम नहीं जीत सकते । तब इसका उपाय ?—उपाय स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुनको उपलक्ष्य कर कुरुक्षेत्रके रणाङ्गनमें बता है ।—उनके शरणापन्न होनेपर ही मायाके हाथसे छुटकारा मिलता है, इसका और कोई भी उपाय नहीं है । यथा—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ २८ ॥

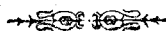
(गी० ७।१४)

अन्तमें भी अर्जुनसे उन्होंने कहा है -- “देह के सुखमूलक या दुःख-निवृत्तिमूलक जितने प्रकारके धर्म हैं, उन सबको परित्याग कर एकमात्र मेरे शरणापन्न हो ।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।

(गी० १८।६६)

किन्तु केवल मुखसे कहने से शरणापत्ति नहीं होती, उसकेलिये मनको प्रस्तुत करना होगा । मनको प्रस्तुत करने के लिए साधनकी आवश्यकता है । गुरु-कृपापुष्ट साधनके फलसे भगवत्-कृपा द्वारा मायासे मुक्त होने पर जीव स्वरूपमें स्थित होकर अर्थात् नित्यकृष्ण दास-भाव का अवलम्बन करके पार्षदरूपसे भगवत्-सेवा प्राप्त करके ही जीव कृतार्थ हो सकता है ।



प्रकाशक—
श्रीहरिनाम सङ्कीर्तन मण्डल
श्रीधाम-वृन्दावन ।



प्रकाशन संख्या
एकादश



प्रथम संस्करण
१००० प्रति



गौराब्द—४८४
वि० सं०—२०२६
ई० सन्—१९६६



नयींछावर
रु० १.७५



[सर्वाधिकार सुरक्षित हैं]



मुद्रक—
श्री श्यामलाल हकीम
श्रीहरिनाम प्रेस, वृन्दावन ।